नित्ययोगकी प्राप्ति

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नित्ययोगकी प्राप्ति

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरि: ॥

निवेदन

जो हमसे कभी अलग न हो सके और हम जिससे कभी अलग न हो सकें, वह तत्त्व क्या है, उस तत्त्वका अनुभव कैसे हो, उसके अनुभवमें जो बाधाएँ हैं, उनका निवारण कैसे हो—यह विषय परमश्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराज अपने प्रवचनोंमें बड़ी सरलतापूर्वक अनेक प्रकारसे समझाया करते हैं। ऐसे कुछ विशेष प्रवचनोंका संग्रह आवश्यक संशोधनके साथ 'नित्ययोगकी प्राप्ति' पुस्तकके रूपमें साधकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इन प्रवचनोंमें साधकोंको साधन तथा साध्यके विषयमें अनेक प्रेरणाप्रद विलक्षण बातें मिलेंगी। साधकोंसे प्रार्थना है कि वे गम्भीरतापूर्वक इस पुस्तकका अध्ययन करके लाभान्वित हों।

—प्रकाशक

❑ ❑

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

१. नित्ययोगकी प्राप्ति

संसारमें जितने भी पदार्थ हैं, वे सब-के-सब आगन्तुक हैं अर्थात् हरेक पदार्थका संयोग और वियोग होता है। ऐसे ही सम्पूर्ण क्रियाओंका संयोग और वियोग होता है। क्रियाओंका आरम्भ होना क्रियाओंका संयोग है और क्रियाओंका समाप्त हो जाना क्रियाओंका वियोग है। ऐसे ही संकल्पोंका भी संयोग और वियोग होता है। संकल्प पैदा हो गये तो संयोग हो गया और संकल्प मिट गये तो वियोग हो गया। अतः संयोग और वियोग पदार्थोंके साथ भी है, क्रियाओंके साथ भी है और मानसिक भावोंके साथ भी है।

संयोग और वियोग—दोनोंमें अगर विचार किया जाय तो जो संयोग है, वह अनित्य है और जो वियोग है, वह नित्य है। यह खास समझनेकी बात है। जैसे, आपका और हमारा मिलना हुआ तो यह संयोग हुआ एवं आपका और हमारा बिछुड़ना हो गया तो यह वियोग हुआ। मिलनेके बाद बिछुड़ना जरूर होगा; परन्तु बिछुड़नेके बाद फिर मिलना होगा—यह नियम नहीं है। अतः वियोग नित्य है। पहले आप नहीं मिले तो वियोग रहा और आप बिछुड़ गये तो वियोग रहा। वियोग स्थायी रहा। जितनी देर आप मिले हैं, उतनी देर यह संयोग भी निरन्तर वियोगमें ही बदल रहा है। जैसे, एक आदमी पचास वर्ष लखपति रहा। जब उसे लखपति हुए एक वर्ष हो गया, तब पचास वर्षोंमेंसे एक

वर्ष कम हो गया अर्थात् एक वर्षका वियोग हो गया। अतः संयोगकालमें भी वियोग है।

संयोगसे होनेवाले जितने भी सुख हैं, वे सब दुःखोंके कारण अर्थात् दुःख पैदा करनेवाले हैं—'**ये हि संस्पर्श**जा भोगा **दुःखयोनय एव ते**' (गीता ५।२२)। अतः संयोगमें ही दुःख होता है। वियोगमें दुःख नहीं होता। वियोग (संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद)-में जो सुख है, वह अनन्त है, अपार है। उस सुखका वियोग नहीं होता; क्योंकि वह नित्य है। जब संयोगमें भी वियोग है और वियोगमें भी वियोग है तो वियोग ही नित्य हुआ। इस नित्य वियोगका नाम 'योग' है। गीता कहती है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**' (गीता ६।२३) अर्थात् दुःखोंके संयोगका जहाँ सर्वथा वियोग है, उसको 'योग' कहते हैं। अतः संसारके साथ वियोग नित्य है और परमात्माके साथ योग नित्य है।

'योग' नाम किसका है? पातंजलयोगदर्शनने चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको योग कहा है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' (१। २)। परन्तु गीता समताको योग कहती है—'**समत्वं योग उच्यते**' (२।४८)। यह समता नित्य रहती है। संयोगसे पहले भी समता है, अन्तमें वियोग होनेपर भी समता है और संयोगके समय भी समता है। इस प्रकार समतामें नित्य स्थिति ही नित्ययोग है। इस नित्ययोगका जिसको अनुभव हो गया है; उसको गीताने '**योगारूढ़**' कहा है। योगारूढ़की पहचान क्या है? इसके लिये गीताने तीन बातें बतायी हैं—पदार्थोंमें आसक्ति न होना, क्रियाओंमें आसक्ति न होना और सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग होना—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥ (गीता ६।४)

तात्पर्य है कि इन्द्रियोंके भोगोंमें और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तथा भीतरसे यह आग्रह भी न हो कि ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये। 'संकल्प' नाम किसका है? ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये, ऐसा मिलना चाहिये और ऐसा नहीं मिलना चाहिये, ऐसा संयोग होना चाहिये और ऐसा संयोग नहीं होना चाहिये—इसको 'संकल्प' कहते हैं। अतः न तो पदार्थोंमें आसक्ति हो और न पदार्थोंके अभावमें आसक्ति हो, न क्रियाओंमें आसक्ति हो और न क्रियाओंके अभावमें आसक्ति हो तथा कोई संकल्प न हो तो 'योगारूढ़' हो गया। तात्पर्य है कि पदार्थ मिले या न मिले, क्रिया हो या न हो, इनका कोई आग्रह नहीं हो—'**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन**' (गीता ३। १८)। पदार्थ मिलें तो अच्छी बात, न मिलें तो अच्छी बात! क्रिया हो तो अच्छी बात, न हो तो अच्छी बात! संकल्प पूरा हो तो अच्छी बात, न हो तो अच्छी बात! वृत्तियोंका निरोध हो तो अच्छी बात, न हो तो अच्छी बात! अपना सम्बन्ध नहीं है इनसे।

इन्द्रियोंके भोगोंमें और कर्मोंमें आसक्ति न होनेका अर्थ हुआ—अचाह और अप्रयत्न होना। इन्द्रियोंके भोगोंमें, पदार्थोंमें आसक्ति न हो तो 'अचाह' हो गये और क्रियाओंमें आसक्ति न हो तो 'अप्रयत्न' हो गये। तात्पर्य है कि चाहनाका भी अभाव हो और प्रयत्नका भी अभाव हो। अचाह और अप्रयत्न हुए तो परमात्मासे अभिन्नता स्वतः हो गयी। वास्तवमें अभिन्नता

हो नहीं गयी, अभिन्नता थी। अचाह और अप्रयत्न न होनेसे उसका अनुभव नहीं होता था। चाह और क्रियाका अभाव हुआ तो स्वरूपमें स्थितिका, नित्ययोगका अनुभव हो गया।

परमात्मामें आपकी स्थिति निरन्तर है, आपकी समझमें आये या न आये। आप संसारके साथ जितना सम्बन्ध मानते हैं, उतनी आपकी नित्ययोगसे विमुखता है! संसारमें सिवाय धोखेके कुछ मिलनेवाला नहीं है। संसारसे सब संयोगोंका, सम्बन्धोंका वियोग ही होगा।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥

(वाल्मीकि० २।१०५।१६)

'समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है, लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है, संयोगोंका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है।'

परन्तु परमात्माके साथ जो नित्ययोग है, वह जीवमात्रको सदा प्राप्त है। संयोगजन्य सुखमें फँस जाते हैं, इसलिये परमात्माके साथ नित्य-सम्बन्धकी तरफ दृष्टि नहीं जाती। तात्पर्य है कि नित्ययोगका अभाव नहीं हुआ है, केवल उधर दृष्टि नहीं है। भोगी-से-भोगी, रागी-से-रागी, पापी-से-पापी, पुण्यात्मा-से-पुण्यात्मा, मुक्त-से-मुक्त, मूर्ख-से-मूर्ख, विद्वान्-से-विद्वान्, कोई क्यों न हो, नित्ययोगसे उसका वियोग कभी हुआ नहीं, कभी होगा नहीं, कभी हो सकता नहीं। उस नित्ययोगकी प्राप्ति करना ही गीताका खास सिद्धान्त है। नित्ययोगकी प्राप्ति क्या है? अप्राप्त (संसार)-के माने हुए

सम्बन्धको मिटा देना ही नित्ययोगकी प्राप्ति करना है। अप्राप्तके साथ हमने सम्बन्ध माना है, इसीसे नित्यप्राप्तकी तरफसे हम विमुख हो गये हैं। नित्ययोग तो ज्यों-का-त्यों है। परन्तु संसारका संयोग कभी रहा नहीं, कभी रहेगा नहीं, कभी रह सकता नहीं। संयोग तो वियोगमें ही बदलेगा। संयोगको आप कभी रख नहीं सकते और वियोग आपको कभी छोड़ नहीं सकता।

पदार्थोंका सम्बन्ध होगा तो उनका वियोग मुख्य रहेगा। क्रियाएँ होंगी तो उनका भी वियोग मुख्य रहेगा। संकल्पोंका भी वियोग होगा। ऐसा हो जाय और ऐसा नहीं हो जाय—ये दोनों ही वियोगमें बदलेंगे। ऐसा होना चाहिये—इसका भी वियोग होगा और ऐसा नहीं होना चाहिये—इसका भी वियोग होगा। परमात्माका योग ही नित्य रहेगा। संकल्प पूरा हो जाय तो भी संयोग नहीं रहेगा और संकल्प पूरा नहीं हो तो भी संयोग नहीं रहेगा। आप '**सर्वसंकल्पसंन्यासी**' स्वतःसिद्ध हैं। संयोगमें आप रस लेने लगते हैं तो आपकी नित्ययोगसे विमुखता हो जाती है। नित्ययोगका वियोग नहीं होता, विमुखता होती है। जब नित्ययोगके सम्मुख हो जाओगे, तब अनन्त जन्मोंके पाप नष्ट हो जायँगे—'***सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥***' नित्ययोगके सम्मुख होनेपर पाप बेचारा कहाँ टिकेगा? वह तो विमुखतामें ही टिकता है।

नित्ययोगकी प्राप्तिके लिये जो योगमें आरूढ़ होना चाहता है, उसके लिये कर्म करना कारण है—'**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**' और योगारूढ़ होनेपर अर्थात् संसारसे सम्बन्ध-

विच्छेद होनेपर एक शान्ति मिलती है, वह शान्ति परमात्माकी प्राप्तिमें कारण है—‘**योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते**’ (गीता ६ । ३)। तात्पर्य है कि जो योगारूढ़-अवस्था है, उसमें राजी नहीं होना है। उसमें राजी होनेसे, उसका भोग करनेसे अटक जाओगे, जिससे परमात्मप्राप्ति होनेमें कई दिन लग जायँगे। जैसे, पहले बालककी खेलमें रुचि रहती है। परन्तु जब उसकी रुचि रुपयोंमें होती है, तब खेलकी रुचि अपने-आप मिट जाती है। ऐसे ही जबतक परमात्मप्राप्तिका अनुभव नहीं हुआ है, तबतक उस शान्तिमें रुचि रहती है अर्थात् शान्ति बहुत बढ़िया मालूम देती है। परन्तु कुछ दिनके बाद शान्तिकी रुचि अपने-आप मिट जाती है। अगर उस शान्तिका उपभोग न करो, उससे उपराम हो जाओ तो बहुत जल्दी परमात्मप्राप्तिका अनुभव हो जायगा।

योगारूढ़ होनेमें कर्म करना कारण है अर्थात् कर्म करते-करते जब सबका वियोग हो जायगा, तब योगारूढ़ हो जाओगे। कर्म करनेसे योगकी प्राप्ति होगी—इसका नाम ‘कर्मयोग’ है; क्योंकि कर्मोंकी समाप्ति हो जायगी और योग नित्य रहेगा। क्रियाओंकी समाप्ति, पदार्थोंकी समाप्ति, परिस्थितियोंकी समाप्ति, संयोगोंकी समाप्ति (सम्बन्ध-विच्छेद) होनेपर नित्ययोग रह जायगा। ऐसे ही ज्ञानके द्वारा संसारसे वियोग किया जाय तो यह ‘ज्ञानयोग’ है। एक चीज रहनेवाली (अविनाशी) है और एक चीज नहीं रहनेवाली (नाशवान्) है। नहीं रहनेवाली चीजसे वियोग तो हो ही रहा है। केवल आप अनुभव कर लो कि जितने भी पदार्थोंका संयोग है, वह पहले नहीं था,

फिर नहीं रहेगा और अब भी प्रतिक्षण वियोगमें बदल रहा है। परन्तु इनको जाननेवाला (साक्षी) ज्यों-का-त्यों रहता है। इस प्रकार विचारके द्वारा संसारके संयोगका वियोग करना ज्ञानयोग है। ऐसे ही संसारका सम्बन्ध जितना टूटेगा, उतना परमात्माके साथ सम्बन्ध जाग्रत् होगा। यह 'भक्तियोग' है। अब भी परमात्माके साथ किसी भी प्राणीका वियोग नहीं है। कारण कि परमात्मा सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुओंमें, सम्पूर्ण क्रियाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें, सम्पूर्ण अवस्थाओंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। संसारको आदर देनेसे हम परमात्मासे विमुख हो गये। परमात्मा हमारेसे कभी विमुख नहीं हुए।

कर्मके द्वारा योगमें पहुँचो तो कर्मयोग हो गया, ज्ञानके द्वारा योगमें पहुँचो तो ज्ञानयोग हो गया। भक्तिके द्वारा योगमें पहुँचो तो भक्तियोग हो गया। कर्म, ज्ञान और भक्ति—तीनों योगमें समाप्त हो जाते हैं अर्थात् योगमें सब एक हो जाते हैं। उस योगमें सबकी स्वतःसिद्ध नित्य स्थिति है। इस नित्य स्थितिको सँभालना है—***'संकर सहज सरूपु सम्हारा'*** (मानस १। ५८। ४)। तात्पर्य है कि खयाल न होनेसे उसका पता नहीं था, पर खयाल होते ही पता लग गया कि ओहो! यह बात है!! कितनी सुगम, कितनी श्रेष्ठ बात है!

'यदा हि नेन्द्रियार्थेषु……योगारूढस्तदोच्यते'—यहाँ **'यदा'** और **'तदा'** पद देनेका तात्पर्य है कि आप जिस समय पदार्थोंमें, क्रियाओंमें और संकल्पमें आसक्ति नहीं करेंगे, उसी समय आप योगारूढ़ हो जायँगे। अब ऐसा आप एक घण्टेमें कर

लें, एक दिनमें कर लें, एक जन्ममें कर लें अथवा अनेक जन्मोंमें कर लें, यह आपकी मरजी है!

योगकी प्राप्ति (अनुभूति) होनेपर फिर उससे कभी निवृत्ति नहीं होती—'**यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः**' (गीता १५। ४)। कारण कि निवृत्ति गुणोंके संगसे होती है— '**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। वहाँ गुणोंका अत्यन्त अभाव है, फिर निवृत्ति कैसे होगी? भगवान्‌का अंश भगवान्‌में मिल गया! जैसे, आप कितने ही बड़े धनी हैं और बड़े-बड़े होटलोंमें बैठे हैं, फिर भी आपका नाम मुसाफिर है। घर चाहे टूटा-फूटा छप्पर हो, पर वहाँ पहुँच गये तो अब आप मुसाफिर नहीं रहे, घर पहुँच गये। ऐसे ही नित्ययोगकी प्राप्ति हो गयी तो हम अपने घर पहुँच गये!

अभी वस्तुओंकी और क्रियाओंकी सत्ता मानते हैं, इसलिये कहते हैं—'**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते**'। वास्तवमें इनकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है। परमात्मतत्त्वमें न वस्तु है और न क्रिया है। वह वस्तुरहित और क्रियारहित तत्त्व है, इसलिये उसकी प्राप्ति अभ्याससाध्य नहीं है। मन-बुद्धि-इन्द्रियोंकी सहायता लेते हैं और प्रयत्न करते हैं, तब अभ्यास होता है। परमात्मतत्त्व तो ज्यों-का-त्यों है। उसकी प्राप्तिमें विधि नहीं चलती, प्रत्युत निषेध चलता है। वस्तु और क्रियाका निषेध करनेपर वह स्वतः है—'**शिष्यते शेषसंज्ञः**'। इसलिये इसमें कुछ करनेकी बात ही नहीं है। यह करण-निरपेक्ष तत्त्व है।

जिसके द्वारा तत्काल क्रियाकी सिद्धि होती है, उसका नाम 'करण' होता है—'**साधकतमं करणम्**' '**क्रियाया**

निष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्'। जैसे, 'रामके बाणसे बालि मारा गया'—इस वाक्यमें करणत्व बाणमें है, धनुष, प्रत्यंचा, हाथ आदिमें नहीं। अत: क्रियाकी सिद्धिमें करण काम आता है। परन्तु जहाँ क्रिया है ही नहीं, वहाँ करण कैसे काम आयेगा? क्रियारहित तत्त्वमें कुछ न करना ही 'करना' है! कहते हैं कि अन्त:करणकी शुद्धिसे वह तत्त्व मिलता है। परन्तु अन्त:करणकी शुद्धिसे वह तत्त्व मिलता है, जो करण-साध्य होता है। जो तत्त्व करण-साध्य है ही नहीं, उसकी प्राप्तिमें अन्त:करणकी शुद्धि-अशुद्धिसे क्या मतलब? मतलब ही नहीं है। वास्तवमें करणके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होनेसे करणकी जैसी शुद्धि होती है, वैसी शुद्धि किसी उद्योगसे कभी हुई नहीं, कभी होगी नहीं और कभी हो सकती नहीं। कारण कि उद्योग, प्रयत्न करेंगे तो जड़की सहायता लेंगे। यदि जड़की सहायता लेंगे तो जड़से ऊँचे कैसे उठेंगे?

जिन क्रियाओंका आदि और अन्त होता है, उन क्रियाओंके जनकको 'कारक' कहते हैं। नित्ययोगकी प्राप्तिमें किसी कारककी जरूरत नहीं है अर्थात् कर्ताकी, कर्मकी, करणकी, अधिकरणकी, सम्प्रदानकी, अपादानकी, किसीकी भी जरूरत नहीं है, उसकी प्राप्तिमें इन सभी कारकोंका वियोग है। वह कारक-निरपेक्ष स्वत:सिद्ध तत्त्व है।

जैसे परमात्मामें क्रिया और वस्तुका, कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभाव है, ऐसे ही आत्मामें भी कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभाव है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१) अर्थात् शरीरमें रहते हुए भी आत्मा

न करता है और न लिप्त होता है। तात्पर्य है कि कर्तृत्वका अभाव और निर्लिप्तता पहलेसे ही विद्यमान है, इनको कहींसे लाना नहीं है। न कर्तृत्वका अभाव करना है और न निर्लिप्तता लानी है, ये तो स्वतःसिद्ध हैं। कर्तृत्व और लिप्तता अपनी बनायी हुई है; अतः इनका त्याग करना है। इनका त्याग होते ही नित्ययोग स्वतःसिद्ध है*। भगवान् कहते हैं—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

(गीता १४।१९)

'जब विवेकी मनुष्य तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और अपनेको गुणोंसे पर अनुभव करता है, तब वह मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।'

❑ ❑

---

* इस विषयको विस्तारसे समझनेके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीता-दर्पण' में आया 'गीतामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वका निषेध' शीर्षक लेख देखना चाहिये।

२. सत्स्वरूपका अनुभव

एक वस्तुका निर्माण (बनाना) होता है और एक वस्तुका अन्वेषण (ढूँढ़ना) होता है। ढूँढ़नेसे वही चीज मिलती है, जो पहलेसे थी। जो चीज बनायी जाती है, पैदा की जाती है, वह पहले नहीं होती प्रत्युत बननेके बाद होती है। परमात्मतत्त्व पैदा नहीं किया जाता। वह कृतिसाध्य नहीं है। जो कृतिसाध्य नहीं है, उसमें कर्ता, कर्म, करण आदि कोई भी कारक लागू नहीं होता। करना सब प्रकृतिमें होता है—'**गुणा गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३। २८), '**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्**' (गीता १४। १९), '**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते**' (गीता ५। ९), '**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः**' (गीता ३। २७)। प्रकृतिसे अतीत तत्त्वमें क्रिया है नहीं, कभी हुई नहीं, कभी होगी नहीं, कभी हो सकती नहीं। वह परमात्मतत्त्व तो ज्यों-का-त्यों है। 'नहीं' की तरफ जो आकर्षण है, इसके सिवाय उसकी प्राप्तिमें कोई बाधा नहीं है। 'नहीं' को सत्ता भी आपने ही दी है। उसकी खुदकी सत्ता तो है ही नहीं। अपने बचपनको आपने छोड़ा है क्या? किसीने छोड़ा हो तो बता दो कि किस तारीखको बचपन छोड़ा? बचपन तो अपने-आप छूट गया। यह असत् एक क्षणभर भी नहीं टिकता। इसके बदलनेकी गतिको देखा जाय तो इसको दो बार आप देख नहीं सकते। पहले जैसा देखा, दूसरी बार देखनेसे वह वैसा नहीं रहा, बदल गया। अब आपके खयालमें आये या न आये, यह बात अलग है।

जो वर्षमें बदलता है, वही महीनेमें बदलता है, वही दिनमें

बदलता है, वही घण्टेमें बदलता है, वही मिनटमें, सेकेण्डमें बदलता है। सिवाय बदलनेके संसारमें और कुछ तत्त्व ही नहीं है—'**सम्यक् प्रकारेण सरति इति संसारः**', '**गच्छति इति जगत्**'। जो हरदम बदलता है, उसको तो आप स्थायी मानते हैं और जो कभी बदला नहीं, कभी बदलेगा नहीं, कभी बदल सकता नहीं, उसकी प्राप्तिको कठिन मानते हैं। जो निरन्तर रहता है, कभी बदलता नहीं, उसकी प्राप्ति कठिन है तो फिर सुगम क्या है? वह तो स्वतः-स्वाभाविक है, सिर्फ उधर दृष्टि करनी है।

आप ध्यान दें, यह जो, 'संसार है' ऐसा दीखता है, यह 'है'-पना क्या संसारका है? अगर संसारका है तो फिर बदलता क्या है? सत्‌का तो अभाव होता नहीं और संसारका अभाव प्रत्यक्ष हो रहा है। अवस्थाका, परिस्थितिका, घटनाका, देशका, कालका, वस्तुका, व्यक्तिका, इन सबका परिवर्तन होता है—यह प्रत्यक्ष हमारे अनुभवकी बात है। स्थूल-से-स्थूल बात बतायें कि आप यहाँ नहीं आये तो भी प्रकाश वैसा ही था और आप आ गये तो भी प्रकाश वैसा ही है। आप आयें या चले जायँ, प्रकाशमें क्या फर्क पड़ता है? ऐसे ही आप कभी दरिद्री हो जायँ, कभी धनी हो जायँ, कभी बीमार हो जायँ, कभी स्वस्थ हो जायँ, कभी आपका सम्मान हो जाय, कभी अपमान हो जाय, पर आपके होनेपनमें क्या फर्क पड़ता है? आपका जो होनापन है, सत्तास्वरूप है, उसमें आप स्थित रहो—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४)। तात्पर्य है कि आपकी सत्ता निरन्तर रहनेवाली है। अगर आपकी सत्ता नहीं रहेगी तो चौरासी लाख योनियाँ कौन भोगेगा, नरक कौन

भोगेगा, स्वर्ग आदि लोकोंमें कौन जायगा? आपकी सत्ता निरन्तर ज्यों-की-त्यों है। उसमें कोई परिवर्तन हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।

विचार करें, आपके होनेपनमें कौन-से करणकी सहायता है? किस कारककी सहायतासे आपका होनापन है? आपका होनापन करण-निरपेक्ष है। अपने होनेपनमें रहते हुए भी आप उससे चिपकते हैं, जो नहीं है। वास्तवमें उससे कभी चिपक सकते नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि असत्‌के साथ चिपक जाय, असत्‌के साथ रह जाय। कैसे रह जायगा? असत् तो परिवर्तनशील है। पर मेहनत सब उसीके साथ चिपकनेकी होती है। कोरी फालतू मेहनत होती है। अपने होनेपनमें क्या फर्क पड़ता है? क्रियाओं और पदार्थोंके परिवर्तनको अपनेमें मान लो तो आपकी मरजी है, होनेपनमें तो कोई परिवर्तन है नहीं। आने-जानेवालोंमें परिवर्तन है, प्रकाशमें परिवर्तन नहीं है। ऐसे जो सबका प्रकाशक है, स्वयंप्रकाश है, प्रकाशस्वरूप है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता। जो है, उसमें नहींपना नहीं हो सकता और जो नहीं है, उसमें हैपना नहीं हो सकता—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। असत्‌की सत्ता नहीं होती और सत्‌का अभाव नहीं होता। सत् सदा ज्यों-का-त्यों, अटल, अखण्ड रहता है और उसमें सबकी स्थिति स्वतः है। परन्तु जो मिटता है, उसमें आप स्थिति मान लेते हैं कि मैं धनी हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं नीरोग हूँ, मेरा सम्मान है, मेरा अपमान है। मिटनेवालेको आप पकड़ नहीं सकोगे, चाहे युग-युगान्तरोंतक मेहनत कर लो! अपनी स्वतःसिद्ध सत्तामें स्थित हो जाओ तो गुणातीतके सब लक्षण आपमें आ जायँगे।

वास्तवमें वे लक्षण आपमें हैं, पर बदलनेवालेके साथ मिल जानेसे उनका अनुभव नहीं हो रहा है।

श्रोता—महाराजजी! क्रियाओंमें भी तो वही सत्ता है!

स्वामीजी—क्रियाओंकी सत्ता है ही नहीं। क्रियाएँ तो आरम्भ होती हैं और नष्ट होती हैं। मैंने व्याख्यान शुरू किया और अब खत्म हो रहा है। क्रिया और पदार्थ सब खत्म होनेवाले हैं।

श्रोता—बिना सत्ताके क्रिया कैसे हुई? सत्ता है, तभी तो क्रिया हुई!

स्वामीजी—तो बस, सत्ता हुई मूलमें, क्रिया कहाँ हुई? यही तो हम कहते हैं! क्रियाका अभाव होता है। सत्ताका अभाव कभी होता ही नहीं। बिलकुल प्रत्यक्ष बात है। इसका कोई खण्डन कर सकता ही नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि इसका खण्डन कर दे। असत्‌की सत्ता भी सत्‌के अधीन है, सत्‌की सत्ता भी सत्‌के अधीन है। असत्‌की स्वतन्त्र सत्ता कभी हुई नहीं, कभी होगी नहीं, कभी हो सकती नहीं। इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित रहो, इधर-उधर चलो ही मत। '**समदुःखसुखः स्वस्थः**'—सुख-दुःख तो आते-जाते हैं, इसमें आप स्वतः ही सम हो। अगर आप सम नहीं हो तो यह सुख हुआ और यह दुःख हुआ—इन दोनोंका ज्ञान कैसे होता है? सुख आता है तो आप सुखके साथ मिलकर सुखी हो जाते हो और दुःख आता है तो दुःखके साथ मिलकर दुःखी हो जाते हो। अगर आप सुखके साथ मिल ही जाते तो फिर दुःखके साथ नहीं मिल सकते और दुःखके साथ मिल जाते तो फिर सुखके साथ नहीं मिल सकते। अतः वास्तवमें आप सुख-दुःख दोनोंसे अलग

हो, पर भूलसे अपनेको सुख-दुःखके साथ मिला हुआ मानकर सुखी-दुःखी हो जाते हो। सुख और दुःख तो बदलनेवाले हैं, पर आप न बदलनेवाले हो। आपके सामने कभी सुख आता है, कभी दुःख; कभी मान होता है, कभी अपमान; कभी आदर होता है, कभी निरादर; कभी विद्वत्ता आती है, कभी मूर्खता; कभी रोग आता है, कभी नीरोगता; पर आप वही रहते हो। अगर वही नहीं रहते तो इन सबका अलग-अलग अनुभव कैसे होता? अगर अलग-अलग अनुभव होता है, तो फिर आपका अभाव कैसे हुआ? सुख-दुःख आदिका अभाव हुआ। अतः कृपानाथ! आप इतनी कृपा करो कि अपने होनेपनमें स्थित रहो। आपका होनापन स्वतःसिद्ध है, कृतिसाध्य नहीं है। उधर दृष्टि नहीं डाली, बस इतनी बात है!

श्रोता—महाराजजी, अन्तःकरणमें राग-द्वेष रहते हुए ही क्रियाएँ होती हैं!

स्वामीजी—बिलकुल क्रियाएँ होती हैं राग-द्वेष रहते हुए; परन्तु आपका कभी अभाव होता है क्या? कितना ही राग-द्वेष हो जाय, कितना ही हर्ष-शोक हो जाय, आपमें कुछ फर्क पड़ता है क्या?

श्रोता—फर्क न पड़नेपर भी साधकमें घबराहट रहती है कि राग-द्वेष तो हो रहे हैं!

स्वामीजी—आप राग-द्वेषको पकड़ लेते हो, बहते हुएको पकड़ लेते हो, तब घबराहट होती है। राग रहता नहीं, द्वेष रहता नहीं, वैर रहता नहीं, सुख रहता नहीं, दुःख रहता नहीं; जो रहता नहीं, उसको पकड़ लेते हो। आप उसको पकड़ो मत। आप तो वैसे-के-वैसे रहते हो। अगर वैसे नहीं रहते

तो सुख और दुःखको, राग और द्वेषको आप अलग-अलग कैसे जानते हो। रागके समय रहते हो, वही द्वेषके समय रहते हो; द्वेषके समय रहते हो, वही रागके समय रहते हो, तब दोनोंका अनुभव होता है। जिसको दोनोंका अनुभव होता है, उसमें दोनों कहाँ हैं?

यह एक वहम है कि अन्तःकरण शुद्ध होनेसे कर्ता शुद्ध हो जायगा। सभी कारक क्रियाके होते हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण—ये सब क्रियाके हैं, प्रकृतिके हैं। यह प्रकृति जिससे प्रकाशित होती है, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः आप राग-द्वेषसे डरो मत। ये तो मिटनेवाले हैं, आने-जानेवाले हैं। असत् तो मिट रहा है। किसीकी ताकत नहीं कि असत्को स्थिर रख सके और सत्का विनाश कर सके। असत् तो टिक नहीं सकता और सत् मिट नहीं सकता। असत्में किसीकी स्थिति हुई नहीं, होगी नहीं और हो सकती नहीं; एवं सत्से अलग कोई हुआ नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं।

श्रोता—असत्में स्थित होकर ही तो भोक्ता बनता है!

स्वामीजी—बिलकुल, इसमें कहना ही क्या है! वह असत्में स्थिति मान लेता है, स्थित होता नहीं। अगर आपकी स्थिति सत्में है तो फिर असत्में स्थिति कैसे हुई? अगर असत्में स्थिति है तो फिर सत्में स्थिति कैसे हुई? रागमें आपकी स्थिति है तो द्वेष कैसे हुआ? द्वेषमें आपकी स्थिति है तो राग कैसे हुआ? राग और द्वेष तो संसारके हैं, उसमें आप लिप्त हो जाते हो। आपमें न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न शोक है। बड़ी सीधी-सरल बात है। इसमें कठिनताका नामोनिशान ही नहीं है!

श्रोता—फिर गड़बड़ी कहाँ है?

स्वामीजी—असत्‌को आप छोड़ना नहीं चाहते—यहाँ ही गड़बड़ी है! संयोगजन्य सुख आपने मान रखा है, यहाँ गड़बड़ी है।

श्रोता—असत्‌का त्याग कैसे हो?

स्वामीजी—अरे! असत्‌को आप पकड़ सकते ही नहीं। किसीकी ताकत नहीं कि असत्‌को पकड़ ले। असत्‌का त्याग क्या करना है, त्याग तो अपने-आप हो रहा है!

सुख और दुःख, राग और द्वेष—दोनोंका जिसको अनुभव होता है, उसमें न सुख है, न दुःख है, न राग है, न द्वेष है, न हर्ष है, न शोक है। जो इन सबसे रहित है, वह आपका स्वरूप है। जिसमें राग-द्वेष आदि होते हैं, वह आपका स्वरूप नहीं है। सीधी बात है! राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि जो दो चीजें हैं, वे आपमें नहीं हैं। वे बेचारी तो आपके सामने गुजरती हैं। कभी राग हो गया, कभी द्वेष हो गया, कभी हर्ष हो गया, कभी शोक हो गया, कभी निन्दा हो गयी, कभी प्रशंसा हो गयी। ये तो होनेवाले हैं और मिटनेवाले हैं। अब होनेवाले और मिटनेवालेको पकड़कर आप सुखी-दुःखी होते हैं! ये तो आपके सामने आते हैं, बीतते हैं, गुजरते हैं। आप ज्यों-के-त्यों रहते हो। आपमें फर्क पड़ता नहीं, आप बदलते नहीं। जो नहीं बदलता, वह आपका स्वरूप है और जो बदलता है, वह प्रकृतिका है। इतनी ही बात है, लम्बी-चौड़ी बात ही नहीं है। कृपानाथ! कृपा करो, आप अपने स्वरूपमें स्थित रहो। स्वरूपमें आपकी स्थिति स्वतः है। आगन्तुक सुख-दुःखमें, आगन्तुक राग-द्वेषमें आप अपनी स्थिति जबरदस्ती करते हो और उसमें आपकी स्थिति कभी रह सकेगी नहीं। आप कितना ही उद्योग कर लो, न रागमें, न द्वेषमें, न सुखमें, न दुःखमें

आपकी स्थिति रह सकेगी। कारण कि आप इनके साथ नहीं हो, ये आपके साथ नहीं हैं। आप कहते हैं कि मिटता नहीं, हम कहते हैं कि टिकता नहीं!

श्रोता—इनमें अपनी जो स्थिति मान रखी है, उस मान्यतासे छूटनेका साधन क्या है?

स्वामीजी—साधन यही है कि नहीं मानेंगे। जो भूलसे मान लिया, उसको नहीं मानना ही साधन है। कितनी सीधी-सरल बात है! कठिनताका नाम-निशान ही नहीं है। निर्माण करना हो, बनाना हो, उसमें कहीं कठिनता होती है, कहीं सुगमता होती है। जो ज्यों-का-त्यों विद्यमान है, उसको जाननेमें क्या कठिनता है?

श्रोता—जिस समय राग-द्वेष आते हैं, उस समय तो प्रभावित हो जाते हैं!

स्वामीजी—तो प्रभावित होना आपकी गलती हुई, राग-द्वेषकी थोड़े ही गलती हुई! आप राग और द्वेष—दोनोंको जानते हो और दोनोंसे अलग हो। अब आप अलग होते हुए भी प्रभावित हो जाते हो, मिल जाते हो, तो यह गलती मत करो।

श्रोता—उसका असर पड़ता है।

स्वामीजी—आप उसको आदर देते हो तो असर पड़ता है। आदर दोगे तो असर पड़ेगा ही! ये तो आगन्तुक हैं। गीता साफ कह रही है—‘**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व**’ (२। १४) ‘ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं, इनको सह लो, विचलित मत होओ।’ आप मुफ्तमें विचलित होते हो, पत्थर उछालकर सिर नीचे रखते हो! इसमें दूसरेका क्या दोष है?

श्रोता—यह सहना अभ्याससे आयेगा क्या?

स्वामीजी—आप सहते ही हो, नहीं तो आप क्या करोगे? सुख आ जाय, उस समय आप क्या करोगे? दुःख आ जाय, उस समय आप क्या करोगे? जबरदस्ती तो सहते ही हो, जानकर सह लो तो निहाल हो जाओ! नहीं तो भोगना पड़ेगा ही। नहीं सहोगे तो कहाँ जाओगे? चाहे सुख आये, चाहे दुःख आये, आप तो ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ (गीता २। १५)

'हे पुरुषोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस धीर मनुष्यको ये मात्रास्पर्श, पदार्थ व्यथा नहीं पहुँचाते, वह अमर हो जाता है।'

ये प्राकृत पदार्थ किसको व्यथा नहीं पहुँचाते? जो सम रहता है, उसको। आप सम नहीं रहते तो कभी सुख पाते हो, कभी दुःख पाते हो। आपने मुफ्तमें बड़े परिश्रमसे बन्धनको पकड़ा है, पर वह टिकेगा नहीं, टिक सकता नहीं। परन्तु आप नये-नये बन्धनको पकड़ते रहते हो। बचपन छूट गया तो जवानीको पकड़ लिया और जवानी छूट गयी तो वृद्धावस्थाको पकड़ लिया। आगन्तुकको पकड़कर मुफ्तमें दुःख पाते रहते हो। कृपा करो, आप अपने स्वरूपमें स्थित रहो।

श्रोता—महाराजजी! तुलसीदासजीको जब शारीरिक कष्ट हुआ तो वे भी सम नहीं रह सके और उन्होंने हनुमानबाहुक लिखा, तो हमारी क्या ताकत है कि सम रह जायँ?

स्वामीजी—वे सम नहीं हुए तो उनकी मरजी, आप क्यों विषम होते हैं? गोस्वामीजी हों या दूसरा कोई हो, हम उनकी

पंचायती करते ही नहीं; हम तो अपनी पंचायती करते हैं! आप क्यों सुखी-दु:खी होते हो? कहीं ऐसा लिखा है कि जो तुलसीदासजीमें नहीं हुआ, वह आपमें नहीं होगा? तुलसीदासजीके छोरा-छोरी नहीं हुए, पर आपके हो गये! तुलसीदासजीमें जो बीमारी नहीं आयी, वह आपमें आ गयी! जो तुलसीदासजीमें नहीं आयीं, वे कई बातें आपमें आ गयीं! आपमें जो बातें आयी हैं, वे सब तुलसीदासजीमें आयी थीं क्या? जितनी आपपर बीती है, उतनी तुलसीदासजीपर बीती थी क्या? फिर तुलसीदासजीको बीचमें क्यों लाते हो?

मैं तो अपने अनुभवकी बात आपको कहता हूँ, न तुलसीदासजीकी बात कहता हूँ, न शंकराचार्य आदिकी बात कहता हूँ। आप अनुभव करके देखो। अगर आपको अनुभव करना है तो इधर-उधरकी बात मत करो। आपसे चर्चा करके मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि वास्तवमें अपने कल्याणकी इच्छा है ही नहीं। अपने कल्याणकी इच्छावाला दूसरी बात कर नहीं सकता। कल्याणकी सच्ची इच्छा हो तो सब सम्बन्ध तोड़कर भजनमें लग जाय। किसीसे न लेना है, न देना है, न आना है, न जाना है; किसीसे कोई मतलब नहीं। रोटी मिल जाय तो खा ली और न मिले तो कोई परवाह नहीं—'*जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये। सीताराम सीताराम सीताराम कहिये॥*' यदि रोटी न मिलनेसे मर जाओगे तो क्या रोटी खाकर जीते रहोगे? क्या रोटी खानेवाला कभी मरता नहीं? समय आनेपर सबको मरना पड़ेगा ही। इसलिये कोई करे या न करे, हमें तो अपना कल्याण करना है।

कल्याण स्वत:सिद्ध है, बन्धन स्वत:सिद्ध नहीं है। बन्धन

कृत्रिम है और आपका बनाया हुआ है। आप अपने-आपका अनुभव करो कि बालकपनसे आजतक आप वही हो कि दूसरे हो? अवस्थाएँ बदलीं, देश बदला, काल बदला, परिस्थिति बदली, पर आप वही रहे। जो बदलता है, उसको ले-लेकर आप सुखी-दुःखी होते हो। आप अपने होनेपनमें स्थित रहो। जो बदलता है, उसमें क्यों स्थित होते हो?

दौड़ सके तो दौड़ ले, जब लगि तेरी दौड़।
दौड़ थक्या धोखा मिट्या, वस्तु ठौड़-की ठौड़॥

श्रोता—स्वामीजी! अपने स्वरूपमें भी स्थित होना है और शरीरको चारा भी देना है.......।

स्वामीजी—दोनोंमें अपने स्वरूपमें स्थित होना है। शरीरके पीछे क्यों पड़े हो? वह तो नष्ट हो रहा है।

श्रोता—उसको चारा तो देना पड़ेगा महाराजजी!

स्वामीजी—चारा देनेके लिये कौन मना करता है? कभी मना किया है मैंने स्वप्नमें भी? पर अपनेको क्यों देना पड़ेगा, जिसको गरज है, वह दे या न दे। आप कहाँसे लाओगे देनेके लिये? लोगोंका इधर-से-उधर दिया है और उधर-से-इधर लिया है, और आपने क्या किया है? जो हैं, उन्हीं चीजोंमें उथल-पुथल किया है। चारा देना पड़े या न पड़े, कोई आवश्यकता नहीं आपको। जो जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं, उनकी लोगोंको गरज हो तो वे उन्हें अन्न दें, वस्त्र दें, नहीं तो मरने दें! उस महापुरुषको तो संसारसे कोई मतलब नहीं है, संसारसे कुछ लेना नहीं है। जिनको दूधकी गरज है, वे दूध देनेवाली गायका पालन अपने-आप करेंगे, ऐसे ही जिनको जीवन्मुक्त महापुरुषकी गरज है, वे उनका पालन अपने-आप

करेंगे। नहीं करेंगे तो उसको लेना है ही नहीं। उसका तो काम बन गया है!

आवश्यकताके अनुसार अन्न लेना, जल लेना और सोना —इन तीन चीजोंके लिये मैं मना करता ही नहीं। भूख भी लगेगी, प्यास भी लगेगी, नींद भी आयेगी, ये तो आती रहेंगी, अपना क्या मतलब है इनसे? जैसे कभी धूप आती है, कभी छाया आती है, कभी वर्षा आती है, कभी हवा चलती है, कभी ठण्डी आती है, कभी गरमी आती है, ऐसे ही भूख भी लगती है, प्यास भी लगती है। कभी संयोग होता है, कभी वियोग होता है; यह तो होता ही रहता है। इसको क्या आदर दें? हो गया तो क्या, नहीं हो गया तो क्या! आप तो वैसे-के-वैसे ही रहे। प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है!

❑❑

३. मुक्ति सहज है

एक बात बताता हूँ। बहुत ध्यान देनेकी और बड़ी सरल बात है। जिसको जीवन्मुक्ति कहते हैं, तत्त्वज्ञान कहते हैं, उसका तत्काल अनुभव हो जाय—ऐसी बात है! अनुभव भी इतना सहज-स्वाभाविक है कि जैसे—*'संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥'* (मानस १। ५८। ४) केवल आपको उधर दृष्टि डालनी है और कुछ नहीं करना है! वह आप सबका अनुभव है; परन्तु आप उधर ध्यान नहीं देते हैं, उसको महत्त्व नहीं देते हैं, इतनी ही बात है!

बहन-भाई सब ध्यान देकर सुनें। बाल्यावस्थासे अभीतक आपका शरीर बदला है, भाव बदले हैं, विचार बदले हैं; देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना, सब बदले हैं। परन्तु आप बदले हो क्या? कोई स्वीकार नहीं करेगा कि मैं बदल गया। शरीरके बदलनेसे अपना बदलना मान लेते हैं, पर शरीर बदलता है, आप नहीं बदलते हो। आपको शरीरके बदलनेका ज्ञान है। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था शरीरकी हुई, आपकी अवस्था कहाँ हुई? आप तो अवस्थाको जाननेवाले हो। जाननेमें आनेवाला बदला है, जाननेवाला नहीं बदला। केवल इसकी तरफ खयाल करना है कि मैं बदलनेवाला नहीं हूँ। इसमें क्या परिश्रम है?

'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'—इस अविनाशीपनका आप अनुभव करो कि शरीर विनाशी है और मैं अविनाशी हूँ। इतनी ही बात है। लम्बी-चौड़ी बात नहीं है। मेरी स्थिति 'नहीं बदलना' है। बदलना मेरी स्थिति नहीं है, प्रत्युत शरीरकी

स्थिति है। बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था—इन तीन अवस्थाओंका आपको अनुभव है, शरीरको अनुभव नहीं है। अनुभव आप करते हो; शरीर क्या अनुभव करेगा? ऐसे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका आप अनुभव करते हो। आप जाग्रत्में भी रहते हो, स्वप्नमें भी रहते हो और सुषुप्तिमें भी रहते हो।

आप जाग्रत्में और स्वप्नमें रहते हो—इसका तो आपको अनुभव होता है, पर आप सुषुप्तिमें भी रहते हो—इसका अनुभव करनेमें थोड़ा जोर पड़ता है। पर मैं सीधी बात बताता हूँ। मैं किस जगह सोया, कब सोया—यह ज्ञान सुषुप्ति (गाढ़ नींद)-में नहीं है। परन्तु जाग्रत् और स्वप्नमें देश, काल आदिका ज्ञान है। अतः देश, काल आदिके अभावका ज्ञान भी आपमें है और इनके भावका ज्ञान भी आपमें है। सुषुप्तिके समय इनके अभावका अनुभव नहीं होता; क्योंकि उस समय अनुभव करनेके औजार (अन्तःकरण-बहिःकरण) नहीं थे, वे अविद्यामें लीन हो गये थे। परन्तु सुषुप्तिसे जगनेपर आपको अनुभव होता है कि मैं वही हूँ, जो सुषुप्तिसे पहले था; परन्तु बीचमें मेरेको कुछ पता नहीं था। अतः सुषुप्तिके समय जाग्रत् और स्वप्नके ज्ञानका अभाव था, पर आपका अभाव नहीं था। यदि आपका अभाव होता तो 'मेरेको कुछ पता नहीं था'—ऐसा कौन कहता? ऐसी गाढ़ नींद आयी कि मेरेको कुछ पता नहीं रहा तो 'कुछ पता नहीं'—इस बातका तो पता है न? जैसे, बाहरसे कोई आवाज दे कि अमुक आदमी घरमें है कि नहीं? तो भीतरसे एक आदमी कहता है कि वह आदमी घरमें नहीं है। परन्तु ऐसा कहनेवाला भी नहीं है क्या? अगर

कहनेवाला नहीं है तो 'वह आदमी घरमें नहीं है'—यह कौन कहता? ऐसे ही सुषुप्तिमें अगर आप नहीं होते तो 'मेरेको कुछ भी पता नहीं था'— यह कौन कहता? जाग्रत् और स्वप्नमें ज्ञान रहता है और सुषुप्तिमें ज्ञान नहीं रहता तो ज्ञानके भाव और अभाव—दोनोंका ज्ञान आपमें है।

प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आप अवस्थाओंकी गिनती कर लेते हो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंका आपको ज्ञान है, तभी आप इन तीनोंकी गिनती करते हो। अगर इन तीनोंमें आप नहीं रहते, तीनोंका आपको ज्ञान नहीं रहता तो इनकी गिनती कौन करता? अतः बाल्यावस्थासे अभीतक सब अवस्थाओंमें और जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति-अवस्थामें आप रहते हो, पर ये अवस्थाएँ नहीं रहतीं। जो नहीं रहता, वह संसार और शरीर है तथा जो रहता है, वह परमात्माका साक्षात् अंश है। 'मैं अविनाशी हूँ'—इसका ज्ञान करानेके लिये ही यह बात कह रहा हूँ। आपके सामने आनेवाली अवस्थाएँ विनाशी हैं, परिस्थितियाँ विनाशी हैं, घटनाएँ विनाशी हैं, देश-काल और क्रिया विनाशी हैं; परन्तु आप अविनाशी हो और देश, काल, क्रिया, वस्तु, व्यक्ति आदि सबके भाव-अभावको जानते हो। आप अविनाशी हो और चेतन, अमल तथा सहजसुखराशि हो—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११७। १)

आप चेतन हो। चेतन किसको कहते हैं? स्थूलरीतिसे अपनेमें जो प्राण हैं, उनके होनेसे चेतन कहते हैं। परन्तु प्राण चेतनका लक्षण नहीं है; क्योंकि प्राण वायु है, जड़ है। चेतनका लक्षण है—ज्ञान। आपको जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका ज्ञान

होता है तो आप चेतन हो। जाग्रत्-अवस्थाको स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाका ज्ञान नहीं है। स्वप्न-अवस्थाको जाग्रत् और सुषुप्ति-अवस्थाका ज्ञान नहीं है। सुषुप्ति-अवस्थाको जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाका ज्ञान नहीं है। अवस्थाओंको ज्ञान नहीं है। शरीरोंको ज्ञान नहीं है, प्रत्युत आपको ज्ञान है। अतः आप ज्ञानस्वरूप हुए, चेतन हुए।

आप अमल हो। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर जितने विकार हैं, वे सब मल हैं। जितना मल आया है, अवस्थाओंमें आया है। जाग्रत्में मल आया, स्वप्नमें मल आया, सुषुप्तिमें मल (अज्ञान) आया; परन्तु आप तो अमल ही रहे। आप तीनों अवस्थाओंको जाननेवाले रहे। आपमें दोष नहीं है। आप दोषोंके साथ मिलकर अपनेको दोषी मान लेते हो। दोष आगन्तुक हैं और आप आगन्तुक नहीं हैं—यह प्रत्यक्ष बात है। दोष निरन्तर नहीं रहते, पर आप निरन्तर रहते हैं। शोक-चिन्ता, भय-उद्वेग, राग-द्वेष, हर्ष-शोक—ये सब आने-जानेवाले हैं और अनित्य हैं—'**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत**' (गीता २। १४)। भगवान्ने कितनी बढ़िया बात कही कि आने-जानेवालोंको सह लो, उनके साथ मिलो मत। सुख भी आने-जानेवाला है, दुःख भी आने-जानेवाला है। परन्तु आप इन आने-जानेवालोंको जाननेवाले हो।

आप सहजसुखराशि हो। सुषुप्तिमें कोई आफत नहीं रहती, दुःख नहीं रहता। आप रुपयोंके बिना रह सकते हैं, आप भूखे-प्यासे रह सकते हैं, आप सांसारिक भोगोंके बिना रह सकते हैं, पर नींदके बिना नहीं रह सकते। नींदके बिना तो आप पागल हो

जाओगे। इसलिये वैद्यजीसे, डॉक्टरसे कहते हो कि गोली दे दो, ताकि नींद आ जाय। नींदमें क्या मिलता है? संसारके अभावका सुख मिलता है। यदि जाग्रत्-अवस्थामें संसारके अभावका ज्ञान हो जाय, संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय तो जाग्रत्-अवस्थामें ही दु:ख मिट जाय; और परमात्मामें स्थिति हो जाय तो आनन्द मिल जाय! इसको ही मुक्ति कहते हैं।

दु:ख कहाँ है? दु:ख संसारके सम्बन्धमें है। जाग्रत् और स्वप्नमें संसारका सम्बन्ध रहता है, इसलिये शान्ति नहीं मिलती। संसारको भूल जाते हो, तब शान्ति मिलती है। यदि संसारका त्याग और परमात्मामें स्थिति हो जाय तो कितना आनन्द होगा! भूलनेमात्रसे सुख मिलता है। भूलनेमात्रसे मनको ताकत मिलती है, बुद्धिको ताकत मिलती है, इन्द्रियोंको ताकत मिलती है, शरीरको ताकत मिलती है। परन्तु संसारके साथ रहनेसे मन थकता है, बुद्धि थकती है, इन्द्रियाँ थकती हैं, शरीर थकता है। संसारका अभाव होता है गाढ़ नींदमें। उस नींदके बिना आप आठ पहर भी नहीं रह सकते। आजकलकी एक बात मैंने सुनी है। पहले मारपीट करके अपराधीसे सच बुलाया करते थे। परन्तु आजकल उसको नींद नहीं लेने देते तो वह सच बोल जाता है। वह जाग्रत्से इतना घबरा जाता है कि सच बोल जाता है। मारपीटसे वह इतनी जल्दी सच नहीं बोलता। अतः नींद नहीं लेना कोई मामूली दु:ख नहीं है। नींदमें बहुत बड़ा सुख मिलता है। आप कहते हो कि ऐसे सुखसे सोया कि कुछ पता नहीं था। तो दु:ख किसका है? दु:ख संसारके सम्बन्धका है। अतः आप सुखराशि हो। अगर सुखराशि नहीं हो तो नींद क्यों चाहते हो? विश्राम क्यों चाहते

हो? काम-धंधा करो आठों पहर! नींदमें शरीरको विश्राम मिलता है, मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको विश्राम मिलता है। संसारको भूल जानेसे आनन्द मिलता है। अगर संसारका त्याग कर दो तो बड़ा भारी आनन्द मिलेगा और स्वरूपमें स्थिति हो जायगी। स्वरूपमें आपकी स्थिति स्वतः-स्वाभाविक है और स्वरूपमें महान् आनन्द है।

आप अविनाशी, चेतन, अमल और सहजसुखराशि हैं। यदि आप अविनाशी न होते तो आपको बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्थाका ज्ञान नहीं होता; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि-अवस्थाका ज्ञान नहीं होता। आप स्वयं नित्य-निरन्तर रहते हो और ये अवस्थाएँ निरन्तर नहीं रहतीं। ये आपके साथी नहीं हैं और आप इनके साथी नहीं हो। इनके साथ रहना अज्ञान है और इनके साथ न रहनेका, इनके संगके अभावका अनुभव करना ज्ञान है, बोध है, जीवन्मुक्ति है। प्रत्यक्ष बात है, सबका अनुभव है। अब केवल इस ज्ञानको महत्त्व देना है।

आपने रुपयोंको महत्त्व दे रखा है, भोगोंको महत्त्व दे रखा है, शरीरको महत्त्व दे रखा है, कुटुम्बको महत्त्व दे रखा है, जमीन-मकानको महत्त्व दे रखा है। इस तरह नाशवान्को जो महत्त्व दे रखा है, यही अनर्थका मूल है। जिनका कुछ भी महत्त्व नहीं है, जो क्षणभंगुर हैं, एक क्षण भी स्थिर नहीं रहते, उनको तो आपने महत्त्व दे दिया और आप निरन्तर रहते हो, उसको आप महत्त्व देते ही नहीं! महत्त्वकी चीज तो यह है। केवल इस विवेकको महत्त्व देना है, इतनी ही बात है! यह सब बदलता है, पर आप नहीं बदलते। आप वही रहते हो। सबका अभाव होनेपर आप सुखका अनुभव

करते हो। नींदमें आप संसारको भूल जाते हो तो उसमें आपको ताजगी मिलती है, सुख मिलता है। ऐसे ही आप जाग्रत्-अवस्थामें अपने-आपमें स्थित हो जाओ। मैं समाधिकी बात, अन्त:करणकी एकाग्रताकी बात नहीं कहता हूँ। अपने-आपमें आपकी स्थिति स्वत: है। जाग्रत्में, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें, मूर्च्छामें, समाधिमें, किस अवस्थामें आपकी स्थिति नहीं है? आपकी स्थिति स्वत: है, इसको आप पहचानो। आने-जानेवालोंके साथ नहीं मिलना है—इसका नाम है ज्ञान। इनके साथ मिल जाना है—इसका नाम है अज्ञान। इतनी ही तो बात है! अनेक ग्रन्थोंको पढ़नेसे बोध नहीं होगा और इस बातको आप मानो तो बोध हो जायगा! वास्तवमें यह व्यक्तिगत बात नहीं है, सबकी बात है। सबके अनुभवकी बात है।

श्रोता—बात स्पष्ट समझमें आती है, पर व्यवहारकालमें इतना घुल-मिल जाते हैं कि यह विवेक लुप्त-सा हो जाता है!

स्वामीजी—व्यवहारमें जागृति नहीं रहती, इसका कारण क्या है? कि व्यवहारमें आनेवाली नाशवान् वस्तुओंको आपने महत्त्व दे दिया। आपको कितनी जोरदार भूख लगी हुई हो और सिनेमामें आपका मनचाहा बहुत बढ़िया, गरमागरम भोजन दीखता हो तो उसको खानेकी मनमें आती है क्या? मुँहमें पानी आ जायगा, भोजनकी याद आ जायगी, पर उसको खानेका मन करता है क्या? आपको प्यास लगी है और परदेपर दीखता है कि ठण्डा जल आ रहा है, गंगाजी बह रही है, पर मन करता है पीनेका? नहीं करता, कारण क्या है? कि उसको महत्त्व नहीं दिया।

श्रोता—परन्तु सिनेमामें निश्चय हो जाता है कि यह है नहीं!

स्वामीजी—अन्नदाता! यही तो मैंने बताया है कि इन

सबके अभावका निश्चय करो। जाग्रत् नहीं है, स्वप्न नहीं है, सुषुप्ति नहीं है, मूर्च्छा नहीं है, समाधि नहीं है। इनके अभावका अनुभव करो; बस, यही बात कहनी है। जैसे सिनेमामें अभावका अनुभव होता है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष आपके सामने बदलता है और आप नहीं बदलते। यह बात मैंने बहुत बार कही है, सैकड़ों-हजारों बार कही है कि पहले इस शरीर और संसारसे सम्बन्ध नहीं था, पीछे इस शरीर और संसारसे सम्बन्ध नहीं रहेगा तथा तीसरी बात यह कि अब सम्बन्ध दीखते हुए भी ये प्रतिक्षण बदल रहे हैं। इनके परिवर्तनका प्रत्यक्ष ज्ञान आपको है। आज दिनतक इतने वर्ष हम जी गये—यह बिलकुल गलत है। जी नहीं गये, प्रत्युत मर गये। जन्मनेके बाद ही मरना शुरू हो गया। बालक दो दिनका हुआ तो उसकी उम्रमेंसे दो दिन कम हो गये। प्रत्यक्ष बात है कि ये सब शरीर पहले नहीं थे और पीछे नहीं रहेंगे तथा वर्तमानमें भी नहींमें जा रहे हैं। अतः संसार 'नहीं'-रूप ही हुआ। '**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २। १६)—असत्‌की तो सत्ता नहीं है और सत्‌का अभाव नहीं है। आप सत्-रूप हो और असत्-रूप संसारको जाननेवाले हो। संसार जाननेमें आनेवाला है। यह है नहीं। होता तो ठहरता। बाल्यावस्था सच्ची होती तो ठहरती, युवावस्था सच्ची होती तो ठहरती, वृद्धावस्था सच्ची होती तो ठहरती, धनवत्ता सच्ची होती तो ठहरती, निर्धनता सच्ची होती तो ठहरती। कोई नहीं ठहरता। इस अनित्यताका आपको प्रत्यक्ष अनुभव है। इसको आदर दो, महत्त्व दो। अब इसमें कठिनता क्या है? इसको महत्त्व नहीं देते हो, इसलिये भूल जाते हो। आपके सौ रुपये खो जायँ तो क्या भूल जाओगे?

कई बार याद आयेगा कि रुपये चले गये! पर ज्ञान चला जाय तो इसकी परवाह ही नहीं है। आपको!

श्रोता—महाराजजी! पदार्थोंके प्रति राग रहते हुए उनकी सत्ताका अभाव नहीं होता।

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि भोजनमें राग रहते हुए भी सिनेमाके भोजनमें सत्ताका अभाव कैसे हुआ?

श्रोता—वहाँ तो यह जँच गया है कि पदार्थ नहीं है।

स्वामीजी—अच्छा, ये पदार्थ हैं क्या?

श्रोता—यह इतना स्पष्ट समझमें नहीं आ रहा है।

स्वामीजी—इसका स्पष्ट रूपसे अभाव समझनेकी कोशिश ही नहीं की है आपने! सिनेमामें पहलेसे ही जानते हैं कि ये नहीं हैं। परन्तु यहाँ पहले ही मान लेते हैं कि ये हैं। यह 'है'-पना आपका बनाया हुआ है, इसमें तो है नहीं।

श्रोता—संसारका 'है'-पना अन्दर बैठा हुआ है, वह निकल नहीं रहा है। बात तो यहाँ अटक रही है!

स्वामीजी—अच्छी बात है, अब ध्यान देकर सुनना आप-लोग। 'है'-पना अर्थात् सत्ता दो तरहकी होती है। एक सत्ता हरदम रहती है और एक सत्ता उत्पन्न होनेके बाद होती है।* आपकी सत्ता निरन्तर रहनेवाली है और शरीर-संसारकी सत्ता पैदा होकर होनेवाली है, निरन्तर रहनेवाली नहीं है। आप कहते हो कि सत्ता मिटती नहीं है, मैं कहता हूँ कि सत्ता टिकती नहीं है!

नदीके किनारे एक सन्त खड़े थे। लोग बोले कि देखो

---

* इस विषयको विस्तारसे समझनेके लिये 'गीता-दर्पण' में आया 'गीतामें द्विविध सत्ताका वर्णन' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये!

महाराज, नदी बह रही है और वहाँ पुलपर आदमी बह रहे हैं। सन्त बोले कि पुल भी बह रहा है! जैसे नदी बह रही है, आदमी बह रहे हैं, ऐसे पुल भी बह रहा है—यह कैसे मान लें? सन्तने पूछा कि जिस दिन पुल बना था, उतना नया है आज? तो इतना बह गया कि नहीं? पूरा बहनेपर बिखर जायगा। ऐसे ही संसार भी बह रहा है। संसारकी सत्ता उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है। इस सत्ताको तो आपने महत्त्व दे दिया, पर नित्य रहनेवाली सत्ताको आपने महत्त्व नहीं दिया। शरीर, संसारकी सत्ता तो अपने सामने पैदा होती और नष्ट होती है। अत: नित्य रहनेवाली सत्ताको महत्त्व दो।

श्रोता—रागके रहते हुए 'संसार नहीं है'—यह निश्चय हो जायगा क्या?

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि अभी मेरे कहनेसे आपको अभावका कुछ ज्ञान हुआ कि नहीं?

श्रोता—हाँ जी!

स्वामीजी—तो इस समयमें क्या राग मिट गया?

श्रोता—नहीं मिटा।

स्वामीजी—तो रागके रहते हुए अभावका ज्ञान होता है न? आप राग-द्वेषपर विचार मत करो, भाव-अभावपर विचार करो। सुगम बात बताता हूँ कि राग-द्वेष दूर नहीं हुए तो कोई परवाह नहीं; परन्तु इनकी सत्ता नहीं है—यह बात तो मानो आप। संसारकी सत्ता नहीं तो राग-द्वेष कहाँ टिकेंगे? मिट जायँगे। आप राग-द्वेषकी चिन्ता मत करो, इनकी बेपरवाह करो। राग हो गया तो हो गया, कोई परवाह नहीं। द्वेष हो गया तो हो गया, कोई परवाह नहीं। न रागको पकड़ो, न

द्वेषको पकड़ो। जो पैदा होता है, वह नष्ट होता है। रागकी भी पैदा होनेवाली सत्ता है, द्वेषकी भी पैदा होनेवाली सत्ता है, पदार्थोंकी भी पैदा होनेवाली सत्ता है। यह सत्ता वास्तवमें सत्ता नहीं है। इसमें क्या बाधा लगती है?

श्रोता—संसारको कैसे भूला जाय?

स्वामीजी—जैसे नींद आनेपर संसारको भूल जाते हो। अभी मेरी बात सुनते हो तो अभी अपना घर याद है क्या? अब याद दिलानेसे याद आ गया, नहीं तो भूले हुए थे। ऐसे ही संसारको भूल जाओ। जो नाशवान् है, उसके भूलनेका, उसके अभावका तो अनुभव होता है, पर आप उसको महत्त्व नहीं देते। आप संसारके अभावको और परमात्माके भावको महत्त्व नहीं देते। संसारके अभाव और परमात्माके भावका ज्ञान तो आपको है, अब कृपानाथ! इतनी कृपा करो कि इस ज्ञानको महत्त्व दो। बालूकी भीत (दीवार) हो और नदीके ऊपर बनाना चाहें तो क्या ठहर जायगी? ये राग-द्वेष तो बालूकी भीत हैं और संसार नदीकी तरह बह रहा है। बहते हुए संसारमें ये राग-द्वेष कैसे टिकेंगे? इतनी बात याद रखो कि यह बहनेवाला है, रहनेवाला नहीं है। सुखदायी अथवा दुःखदायी कोई परिस्थिति आये, वह रहनेवाली नहीं है। इतनी बात याद रखो तो सुगमतासे महान् अनुभव हो जाय, बोध हो जाय!

❑❑

४. मुक्तिका सरल उपाय

जो बात वास्तवमें है, उसको माननेमें क्या जोर आता है? जैसे, यह गीताभवन है—ऐसा माननेमें कोई परिश्रम पड़ता है? ये गंगाजी बह रही हैं—ऐसा माननेमें कोई जोर आता है? सच्ची बातको ज्यों-का-त्यों माननेमें क्या जोर आता है? ऐसी एक बात आपको बतायी जाती है। भगवान् कहते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७) 'यह जीव मेरा अंश है' और गोस्वामीजी महाराज लिखते हैं—'***ईस्वर अंस जीव अबिनासी***' (मानस ७। ११७। १)। अतः आप अपनेको ईश्वरका अंश, बेटा-बेटी मान लो तो क्या जोर आता है? शास्त्रोंमें अगर आदर है तो भगवान्‌का है और उससे भी ज्यादा सन्त-महात्माओंका है। भगवान् और सन्त-महात्मा—दोनों ही कहते हैं कि जीव परमात्माका अंश है। आप किसी भी कुलमें जन्में हों, किसी भी सम्प्रदायमें हों, आपमें कैसी ही योग्यता हो, आप पढ़े-लिखे हों या नहीं हों; परन्तु अंश तो परमात्माके ही हो। पूत तो पूत ही होता है। वह भले ही सपूत अथवा कपूत हो जाय, पर पूत होनेमें फर्क पड़ता है क्या? कपूत क्या पूत नहीं होता? इसी तरह हम कैसे ही हैं, पर भगवान्‌के हैं। बहनें हृदयसे मान लें कि मैं तो भगवान्‌की प्यारी पुत्री हूँ। ऐसा माननेमें क्या जोर आता है? मूलमें, ठेठसे सच्ची बात है यह। भगवान्‌के अंश कह दो या बेटा-बेटी कह दो, एक ही बात है। संसारके माँ-बाप तो हर जन्ममें बदलते हैं, पर भगवान् कभी बदलते हैं क्या? उस भगवान्‌के ही हम

सब हैं। अच्छे हैं, बुरे हैं, भले हैं, मन्दे हैं, पढ़े-लिखे हैं, अपढ़ हैं, पुण्यात्मा हैं, पापी हैं, कैसे ही हैं, पर हैं तो भगवान्‌के ही! अब इस बातको माननेमें क्या बाधा लगती है? कौन-सी फजीती होती है? क्या बेइज्जती होती है आपकी?

कोई रेलवेमें काम करता है तो वह कहता है कि हम रेल-कर्मचारी हैं, बैंकमें काम करता है तो कहता है कि हम बैंकके कर्मचारी हैं, किसी दूकानमें काम करता है तो कहता है कि हम अमुक सेठके, अमुक दुकानदारके आदमी हैं, किसी मिलमें काम करता है तो कहता है कि हम अमुक मिलके आदमी हैं। क्या वह माँ-बापका न होकर रेलवेका है। क्या माँ-बापका न होकर बैंकका है? कोई कह सकता है कि मैं माँ-बापका तो नहीं हूँ, पर रेलवेका हूँ! माँ-बापका नहीं हूँ, बैंकका हूँ! माँ-बापका तो वह रहता ही है। ऐसे ही आप मनुष्यशरीरमें आये हो तो भगवान्‌के होकर मनुष्य हो। गीतामें लिखा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(२।२२)

'मनुष्य जैसे पुराने कपड़ोंको छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंमें चला जाता है।'

कपड़े बदलनेसे क्या मनुष्य दर्जीका हो जाता है? ऐसे ही आपने मनुष्यके, पशुके, वृक्षके कई कपड़े पहन लिये, कई शरीर धारण कर लिये, पर रहे तो भगवान्‌के ही। सच्ची

बात है। सच्ची बातको भी नहीं मानोगे तो किसको मानोगे? सच्ची बात कहनेवालोंमें भी भगवान् और उनके भक्त—इन दोनोंकी बहुत इज्जत है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(मानस ७। ४७। ३)

दोनों ही कहते हैं कि तुम परमात्माके हो। अतः इतनी-सी बात मान लो कि हम कैसे ही हैं, हैं बड़े घरके! हमारा घराना कौन-सा है, यह याद करो। हम भगवान्‌के हैं। भगवान् सब कुछ कर सकते हैं, नरकोंमें भेज सकते हैं, स्वर्गमें भेज सकते हैं, चौरासी लाख योनियोंमें भेज सकते हैं, पर 'यह मेरा नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते, नट नहीं सकते। भगवान्‌के वचन हैं—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

(गीता १६। १९)

'उन द्वेष करनेवाले, क्रूर स्वभाववाले और संसारमें महान् नीच, अपवित्र मनुष्योंको मैं बार-बार आसुरी योनियोंमें गिराता ही रहता हूँ।' कोई पूछनेवाला हो कि महाराज! उनको आसुरी योनियोंमें, नरकोंमें गिरानेका आपको क्या अधिकार है? तो भगवान् यही कहेंगे कि तू पूछनेवाला कौन है? वे मेरे हैं! माँ बच्चेको स्नान कराती है तो बच्चा रोता है। आप उससे कहो कि बच्चा रो रहा है, तेरेको दया नहीं आती? तो वह कहेगी कि जा-जा, तेरा है कि मेरा है? ऐसे ही ***'जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिये। सीताराम सीताराम सीताराम कहिये॥'*** कितनी सीधी, सरल बात है!

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस ३। ११। ११)

जैसे धनी, राजकीय आदमी होते हैं, उनके मनमें एक गरमी होती है कि 'हम राजकीय आदमी हैं'! ऐसे ही आपके मनमें भी गरमी आनी चाहिये कि 'हम भगवान्‌के हैं'! भगवान् कहते हैं—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस ७। ८६। २)। अतः हम भगवान्‌के हैं और भगवान्‌के भी प्यारे हैं, साधारण नहीं हैं। दुनियामें कोई आपको भला-बुरा कुछ भी कहे, पर भगवान् कहते हैं कि मेरे उत्पन्न किये सब मेरेको प्यारे लगते हैं। काला-कलूटा, कुरूप बालक हो, पर उसकी माँसे पूछो कि कैसा है? क्या वह माँको भी बुरा लगता है? इसी तरह जीव कैसे ही हैं, नरकोंमें हैं, स्वर्गमें हैं, वैकुण्ठमें हैं, पृथ्वीपर हैं, पर भगवान्‌के प्यारे हैं—*'सब मम प्रिय'*। अतः मनमें ऐसा उत्साह आना चाहिये कि हम भगवान्‌के हैं; कैसी मौजकी बात है! हम अविनाशी, चेतन, अमल और सहजसुखराशि हैं—यह बात समझमें आये या न आये, पर इतना तो मान ही सकते हैं कि हम भगवान्‌के हैं। कितने आनन्दकी बात है!

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

अपना बालक किसको बुरा लगता है? अपनी माता किसको बुरी लगती है? हमारी माता भी भगवान् हैं और पिता भी भगवान् हैं। यहाँ हमारा जन्म तो थोड़े वर्षोंसे ही हुआ है और थोड़े वर्ष ही रहनेवाला है। यह जो हाड़-मांसका

शरीर है न, यह सब बिखर जायगा! परन्तु हम भगवान्‌के हैं—यह नहीं बिखरेगा। हम कहीं जायँ, किसी योनिमें जायँ; जहाँ जायँ, वहाँ भगवान्‌के ही रहेंगे। भगवान् कहते हैं कि मैं नरकोंमें भेजता हूँ; अतः यदि हम नरकोंमें जायँगे तो भगवान्‌के भेजे ही जायँगे! जो भगवान्‌को अपना और अपनेको भगवान्‌का मानता है, वह क्या नरकोंमें जा सकता है? जा ही नहीं सकता। अगर चला भी जाय तो क्या हर्ज है? ठाकुरजीने भेजा है, हर्ज क्या है! सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)-ने कहा था कि मौका पड़े तो मैं नरकोंमें जाऊँ; क्योंकि यहाँ लोग सांसारिक सुखमें लगे हुए हैं, इसलिये अपनी (सत्संगकी) बात सुनते नहीं। नरकोंमें दुःखी-ही-दुःखी हैं, इसलिये वे अपनी बात ज्यादा सुनेंगे। अतः नरकोंमें जाकर सत्संग करायें तो बड़ा अच्छा है!

महाभारत, स्वर्गारोहणपर्वमें आता है कि जब देवदूत युधिष्ठिरको नरकोंके रास्तेपर ले गये, तब नारकीय जीव कहने लगे कि महाराज युधिष्ठिर! आप ठहरो, आपकी हवा लगनेसे हमारेको शान्ति मिलती है। यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा कि हम तो यहीं ठहरेंगे। जहाँ हड्‌डी, मांस, मल, मूत्र आदि बिखरा पड़ा है और महान् दुर्गन्ध आ रही है, ऐसी गन्दी जगह होनेपर भी वे कहते हैं कि हम तो यहीं ठहरेंगे; क्योंकि हमारे ठहरनेसे इनको सुख मिल रहा है! तात्पर्य है कि जो अच्छे पुरुष होते हैं, वे अपना सुख नहीं देखते। अपना सुख तो पशु भी देखता है। सूअर, कुत्ता, ऊँट, गधा भी अपना सुख देखता है। वही अगर मनुष्य भी देखने लगे तो मनुष्य क्या हुआ?

भगवान्‌ने मनुष्यको सेवा करनेका अधिकार दिया है। अतः तनसे, मनसे, वचनसे दूसरोंकी सेवा करो। अपने पासमें जो कुछ है, उसीसे सेवा करो। कोई पूछे तो रास्ता बता दो, प्यारसे उत्तर दे दो। जल पिला दो। हमें तो सबको सुख ही पहुँचाना है। आपके हृदयमें दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव होगा, तो परिचित और अपरिचित, सबको प्रसन्नता होगी। आपके दर्शनसे दुनियाको शान्ति मिलेगी। कितनी उत्तम बात है! कुछ भी न कर सको तो बैठे-बैठे मनमें विचार करो कि सब सुखी कैसे हो जायँ? सब भगवान्‌के भक्त कैसे हो जायँ? भगवान्‌से कहो कि हे नाथ! सब आपके भक्त हो जायँ; सब आपके भजनमें लग जायँ; सब सत्संगमें लग जायँ; सब सत्-शास्त्रमें लग जायँ। अच्छी पुस्तकोंसे बहुत लाभ होता है। मैंने पुस्तकोंसे बहुत लाभ उठाया है और अब भी उठा रहा हूँ। आप भी देखो। यह असली लाभकी बात है! दूसरोंको अच्छी पुस्तकें पढ़नेके लिये दो और कहो कि एक बार पढ़कर देखो तो सही, शायद आपको बढ़िया लगे। पढ़कर हमें लौटा देना और दूसरी पुस्तक ले लेना। इस तरह अच्छी पुस्तकोंका प्रचार करो, जिससे लोगोंका भाव बदले। इसके समान दूसरी सेवा नहीं है। दान-पुण्यसे बढ़कर सेवा है यह! दूसरेको सत्-शास्त्रमें लगा देना, भजनमें लगा देना, सत्संगमें लगा देना बहुत ऊँची सेवा है। मुफ्तमें कल्याण होता है! कलकत्तेके एक वैश्य भाईने मेरेसे कहा कि हमारे जो मालिक हैं, वे रोजाना कहा करते थे कि तुम सत्संगमें चलो। परन्तु मेरेको अच्छा नहीं लगता था। जब उन्होंने कई बार कह दिया, तब सोचा कि

ये कहते हैं तो चलो! वे सत्संगमें गये। केवल इस लिहाजसे गये कि ये मालिक हैं और बार-बार कहते हैं तो सत्संगमें चलो। काम खोटी होगा तो इनका होगा! वे सत्संगमें गये तो उनका मन लग गया और वे रोजाना जाने लग गये। ऐसे ही हर एकको प्यारसे, स्नेहसे सत्संगमें लगाओ। भीतरमें यह भाव रखो कि सबका कल्याण हो जाय! सबका उद्धार हो जाय! सबकी मुक्ति हो जाय!

पाप करनेवाले, अन्याय करनेवाले, खराब रास्ते जानेवाले भी अपनेको दीखें तो समझना चाहिये कि ये भगवान्‌के प्यारे हैं। भगवान्‌ने ***'सब मम प्रिय'*** कहा है, यह नहीं कहा कि ***'भक्त मम प्रिय'!*** उन्होंने मात्र जीवको अपना प्यारा बताया है। अतः जो पाप, अन्याय करते हैं, वे भी भगवान्‌के प्यारे हैं, पर भगवान्‌के लाड़में बिगड़े हुए हैं। ज्यादा लाड़ करनेसे बच्चा बिगड़ जाता है! इसलिये उनपर दया करो और उनको भगवान्‌में लगाओ, भगवान्‌के सम्मुख करो। कोई रोगी है, पर हमारेमें उसको नीरोग करनेकी योग्यता नहीं है तो उसको वहाँ ले जाओ, जहाँ मुफ्तमें दवाई मिलती हो। ऐसे ही जो पाप करनेमें लगे हुए हैं, उनको अच्छी बातें सुनाओ, पुस्तकें दो। यह नहीं कर सको तो उनको सत्संगमें ले जाओ। सत्संग एक औषधालय है। यहाँ आनेपर कोई-न-कोई दवा लागू पड़ जायगी।

हमारेको कलकत्तेमें एक सज्जन मिले। उन्होंने एक बहुत बढ़िया बात बतायी कि मैं भगवान्‌से कहता हूँ—'हे नाथ! सबका पालन तो आपको करना है ही, कहीं-कहीं मेरेको भी मौका दे दो, मेरेको भी निमित्त बना दो। किसीको अन्न

दे दें, किसीको वस्त्र दे दें, किसीकी सहायता कर दें, किसीको कुछ दे दें! करना भी आपको है, देना भी आपको है, पर साथमें थोड़ा-सा मेरेको भी निमित्त बना दो।' इस तरह आप भी भगवान्से कहो कि हे नाथ! आप सभीका पालन-पोषण करते हैं और सभी आपको प्यारे हैं, इतनी कृपा और करो कि कहीं-न-कहीं मेरेको भी निमित्त बना दो। जहाँ योग्य समझो, उस जगह लगा दो। किसी तरहसे मैं भी लोगोंके हितमें निमित्त बन जाऊँ। ऐसे भगवान्से कहो और अपनी तरफसे ऐसा भाव रखो कि सब भगवान्के भक्त बन जायँ! यहाँ एक सज्जन थे। वटवृक्षके नीचे सत्संग हो रहा था। उधर बद्रीनारायणकी तरफ जो रास्ता जाता है, उसपर कई लोग जा रहे थे। उनको देखकर वे सज्जन कहते थे कि मेरे मनमें आता है कि वे लोग उधरसे जा रहे हैं, अगर यहाँसे होकर जायँ तो थोड़ा सत्संग कर लें! ऐसा भाव बनानेमें कोई पैसा लगता है? भगवान् कहते हैं—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (गीता १२। ४) 'जो प्राणिमात्रके हितमें रत हैं, वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।' प्राणिमात्रके हितका भाव भजन है। भजन भी वजनदार है, मामूली नहीं। बीमार पड़े हों तो पड़े-पड़े भी भाव यह रखो कि सब भगवान्के भक्त हो जायँ। हे नाथ! सब आपके दर्शनमें लग जायँ, आपके प्रेममें लग जायँ, आपके भजनमें लग जायँ। कितनी बढ़िया बात है! वे भजनमें लगें या न लगें, यह आपका ठेका नहीं है। नहीं लगे तो उनकी मर्जी! हम कहें कि सत्संगमें चलो, वे कहें कि चल हट, हम नहीं जायँगे! तो अच्छा बाबा, ठीक है! मूँडवामें एक

सज्जन थे। वे लोगोंसे कहते कि सत्संगमें चलो, लोग कहते कि वक्त नहीं है। दूसरे दिन फिर कहते कि सत्संगमें चलो तो लोग फिर कहते कि वक्त नहीं है। तीसरे दिन फिर कहते कि सत्संगमें चलो! लोग ताड़ना करते, पर वे परवाह ही नहीं करते। अब ठाकुरजी उनपर राजी नहीं होंगे तो किसपर राजी होंगे! किसीसे कुछ लेना नहीं, कोई स्वार्थका सम्बन्ध नहीं, फिर भी भाव यह है कि लोग सत्संगमें लग जायँ, भजनमें लग जायँ, भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ। ऐसा भाव बनानेमें क्या खर्चा लगता है आपका? एक कहावत आती है—*'हींग लगे न फिटकरी, रंग झकाझक आये'!* आध्यात्मिक उन्नति करनेकी यह अटकल किसी-किसीके हाथ लगती है। ऐसी बढ़िया विद्या है यह!

श्रोता—अभी आपने कहा, भगवान्‌से प्रार्थना करें कि हमें भी थोड़ा सेवाका मौका दो, तो ऐसा भगवान्‌से कहना अच्छा है या सेवा करनेवाली संस्थाओंमें जाकर कहना अच्छा है?

स्वामीजी—दोनों ही करो। हम भिक्षाको जाते हैं तो माई पूछती है कि महाराज! रोटी लाऊँ या खिचड़ी? तो हम कहते हैं कि रोटीके ऊपर खिचड़ी ले आ! हमें तो नफेकी बात लेनी है। किसीने पण्डितजीसे पूछा कि महाराज! आप भोजन करोगे कि परोसा ले जाओगे? वे बोले कि भोजन भी करेंगे, परोसा भी ले जायँगे और यजमानको राजी भी रखेंगे! ऐसा आप भी करो। खुद भी लगो, औरोंको भी लगाओ। जैसे धनी आदमीकी तरह-तरहसे आमदनी होती है, चारों तरफसे धन आता है, ऐसे आप भी सच्चे हृदयसे लग जाओ तो चारों तरफसे लाभ हो जाय!

श्रोता—जब सब भगवान्के प्रिय हैं, तो फिर संसारमें अन्याय क्यों हो रहा है?

स्वामीजी—अन्याय होता नहीं है, अन्याय करते हैं। अन्याय करनेवाला जिसको कष्ट देता है, वह उसके पापोंका फल है, जिसको भोगकर वह शुद्ध हो रहा है। अतः उसपर अन्याय नहीं होता, प्रत्युत करनेवाला अन्याय करता है। मैंने पहले ही कह दिया कि भगवान्की सृष्टिमें कपूत-सपूत सब तरहके होते हैं। परन्तु जिसको दुःख दिया जा रहा है, उसका बुरा नहीं हो रहा है, प्रत्युत उसका भला हो रहा है। अपने पापोंका फल भोगकर वह शुद्ध, पवित्र हो रहा है। अतः कोई कहे कि हमारेपर अन्याय हो रहा है तो बिलकुल झूठी बात है। अन्याय होता ही नहीं। भगवान्के रहते हुए, भगवान्के राज्यमें अन्याय हो सकता है क्या? नहीं हो सकता।

बलियामें हमारेको एक सज्जन मिले थे। वे ईसाको बड़ा मानते थे। मैंने उनसे कहा कि ईसाई-धर्मकी ऊँची-से-ऊँची जो बात आप बताओगे, उससे बढ़कर बात मैं सनातनधर्ममें बता दूँगा। उन्होंने बताया कि ईसाको क्रासपर चढ़ा दिया तो उन्होंने प्रभुसे प्रार्थना की कि हे नाथ! इनको सद्बुद्धि दो! भक्तोंके चरित्रकी एक गुजराती पुस्तक है। उसमें लिखा है कि कुछ चोर चोरी करके भागे। पुलिसको पता लगा तो वह पीछे भागी। चोरोंने देखा कि पीछे पुलिस आ रही है तो उन्होंने जंगलमें बैठे एक बाबाजीके पास सामान रख दिया और जंगलमें छिप गये। बाबाजी आँखें बंद किये हुए भजन कर रहे थे। पुलिस वहाँ आयी और चोरीका सामान पड़ा

देखकर लगी मारने बाबाजीको कि चोरी करके साधु बना बैठा है! तब बाबाजीने यह नहीं कहा कि इनको सद्बुद्धि दो। वे बोले—***'बधूं तू जाणे छे'*** अर्थात् हे प्रभो! सब कुछ आप ही जानते हैं! अभी मैंने कोई कसूर नहीं किया, बैठा-बैठा भजन कर रहा हूँ, फिर भी मार पड़ रही है तो पहले मैंने कोई-न-कोई पाप किया था, जिसका मेरेको पता नहीं है, जो मेरेको याद नहीं है। इस तरह बाबाजीने उनकी दुर्बुद्धि मानी ही नहीं, प्रत्युत इसको भगवान्‌का ही विधान माना।

❑ ❑

५. प्राप्त जानकारीके सदुपयोगसे कल्याण

मनुष्यमें जाननेकी एक इच्छा रहती है कि मैं अधिक सत्संग करूँ, अधिक पढ़ूँ और अधिक जानूँ। बहुत अच्छी बात है! परन्तु बढ़िया बात यह है कि जितना जानते हैं, उतना काममें लाओ। मैं अधिक पैसे पैदा कर लूँ—यह इच्छा रहती है, पर जो है, उसका उपयोग करो। आपके पास जो पैसा है, उसका उपयोग करनेकी जितनी जरूरत है, उतनी और पैदा करनेकी जरूरत नहीं है। आप पैसोंका सदुपयोग करोगे तो आपके पास पैसोंकी कमी नहीं रहेगी। आप वस्तुओंका ठीक तरहसे सदुपयोग करोगे तो वस्तुओंकी कमी नहीं रहेगी। परन्तु उनका दुरुपयोग करोगे तो लाखों-करोड़ों रुपये होनेपर भी आपकी तृष्णा नहीं मिटेगी, कृपणता नहीं मिटेगी और पतन होगा। एकदम पक्की बात है! इसलिये आजतक जितना आप जानते हो, उसके अनुसार अगर जीवन बना लो तो उद्धार हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं है। अगर आप सुनते जाओ, पढ़ते जाओ, जानते जाओ, पर उसके अनुसार करो नहीं तो आपके चाहे कई जन्म बीत जायँ, उद्धार नहीं होगा।

ज्ञानके संचयकी इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी उसके सदुपयोगकी आवश्यकता है। पैसोंके, वस्तुओंके संचयकी महिमा नहीं है, प्रत्युत उनके सदुपयोगकी महिमा है। आपको जितना मिला है, उतनेसे पूरा उद्धार हो सकता है। भगवान्ने मनुष्यजन्म दिया है तो उद्धारकी सामग्री भी पूरी दी है। वास्तवमें देखा जाय तो सामग्री बहुत ज्यादा दी है! उद्धारके लिये जितनी

योग्यता चाहिये, उससे अधिक योग्यता दी है। उद्धारके लिये जितना समय चाहिये, उससे अधिक समय दिया है। उद्धारके लिये जितनी समझ चाहिये, उससे अधिक समझ दी है। कृपणता, कंजूसी नहीं की है भगवान्‌ने! इसलिये आपके पास जितनी सामग्री है, जितना समय है, जितनी समझ है, जितनी सामर्थ्य है, उसको पूरी लगा दो तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी—इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। जितनी सामग्री, जितना धन आपके पासमें है, उसका आप सदुपयोग करो तो कल्याण हो जायगा। उसका सदुपयोग न करके संचय करोगे तो इस जन्ममें तो कल्याण होगा नहीं, आगेके जन्ममें भी शायद ही हो! जितना धन आपके पास है, उससे ज्यादाकी जरूरत नहीं है। इनकमपर टैक्स होता है, मालपर जगात होती है। जितनी इनकम है, उतना टैक्स होगा। जितना माल है, उतनी जगात होगी। अतः अधिक धनकी इच्छा करनी आफत करनी है, अधिक समयकी इच्छा करनी आफत करनी है, अधिक सामग्रीकी इच्छा करनी आफत करनी है।

समझ (ज्ञान)-में एक विलक्षण बात है कि जितनी समझ है, उसका सदुपयोग करोगे तो वह समझ अपने-आप विलक्षण हो जायगी; बिना पढ़े-लिखे, बिना गुरुके स्वतः बढ़ जायगी! परन्तु कोरा पोथा पढ़कर पण्डित बन जाओ तो वाह-वाह हो जायगी, पर हाथ कुछ नहीं आयेगा, प्रत्युत एक अभिमान नया पैदा हो जायगा। एक माईके घरमें बिल्ली मर गयी। उसने सुबह देखा कि आँगनमें बिल्ली मरी पड़ी है तो उसको बड़ी ग्लानि हुई। अब उसको बाहर कैसे निकालें? वह किसी

मेहतरको बुलाने बाहर चली गयी कि कोई आ जाय और इसको बाहर निकाल दे। इतनेमें एक ऊँट आया। वह बीमार था। घरका दरवाजा छोटा था। ऊँट दरवाजेके भीतर घुसने लगा तो घुसते ही गिर गया और गिरते ही मर गया। अब बिल्ली तो निकली नहीं, ऊँट और मर गया! बिल्लीको तो कोई लकड़ीसे उठाकर फेंक दे, पर ऊँटको कैसे फेंके? ऐसे ही पहले हमें ज्ञान नहीं था तो बिल्ली मरी हुई थी, अब पढ़-लिखकर अभिमान आ गया तो ऊँट मर गया! अब ऊँटको कैसे निकालें? मैं पढ़ा-लिखा हूँ, मैं साधु हूँ, मैं त्यागी हूँ, तुम मेरेको जानते हो कि नहीं? मैं तो कई दिन तुम्हारेको पढ़ा दूँ—यह ऊँट मरा हुआ है। इसको निकालना बड़ा मुश्किल है! कोरी फूँक भरी हुई है, भीतरमें है कुछ नहीं! भीतरमें कोरा घाटा है। इस प्रकार अज्ञानके कारण जो अभिमान आता है, उस अभिमानको दूर करना बड़ा कठिन है! इसलिये कृपानाथ, पहलेसे ही कृपा करो कि आपके पास जितना ज्ञान है, उसके अनुसार जीवन बनाओ। कहते हैं कि गुरुके बिना ज्ञान नहीं होता तो जिन लोगोंने गुरु बनाया है, उनको ज्ञान हो गया क्या? उनका उद्धार हो गया क्या? नहीं हुआ तो फिर आपका कैसे हो जायगा? होनेवाला कुछ नहीं है। केवल टोली बन जायगी। परन्तु जितना जानते हो, उसको काममें लाओ तो निहाल हो ही जाओगे, इसमें सन्देह नहीं है।

भगवान्‌ने मनुष्यशरीर कल्याणके लिये दिया है तो क्या सामग्रीकी कंजूसी की है? समझकी कंजूसी की है? समयकी

कंजूसी की है? एक जीवनमें कई बार कल्याण हो जाय, इतना समय दिया है, इतनी सामर्थ्य दी है, इतनी समझ दी है, इतनी योग्यता दी है। अधिक योग्यताकी जरूरत नहीं है। आप भी अपने बालकसे उतनी ही आशा रखते हैं, जितना वह कर सकता है। जो वह नहीं कर सकता, उसकी आशा आप नहीं रखते। छोटे बच्चेसे यह आशा नहीं रखते कि वह ढाई मनका बोरा उठा लाये। क्या भगवान् आप जितने भी ईमानदार नहीं हैं कि जो हम न कर सकें, उसकी आशा हमारेसे रखें? जितना हम कर सकें, उतनेकी ही जरूरत है; ज्यादाकी जरूरत है ही नहीं। जितना हम जान सकें, समझ सकें, उतनेकी ही जरूरत है; ज्यादाकी जरूरत ही नहीं है। कल्याणके लिये सामग्री बहुत है, समय बहुत है। आप उसका सदुपयोग शुरू कर दें तो बिना पढ़े-लिखे पारमार्थिक बातोंका ज्ञान हो जायगा। आपके भीतर स्वतः विवेक प्रकाशित हो जायगा। कितनी सुगम बात है! आप स्वतन्त्रतासे अपना कल्याण कर सकते हैं। अपने-आपके गुरु आप ही बन जाओ। आप ही अपने नेता बन जाओ। आप खुद ही अपने मालिक बन जाओ। पूर्णता हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं है।

जो महान् उदार है, महान् सुहृद् है, महान् दयालु है और जिसमें अनन्त-अपार ज्ञान है, उस परमात्माके रहते हुए हम दुःख क्यों पायें? क्या कमी है उसके पास? माँके पास सब सामग्री हो और बच्चा भूखा मरे—यह हो ही नहीं सकता। बच्चेको जितनी आवश्यकता है, उससे ज्यादा आवश्यकता माँको है। ऐसे देखनेमें तो बालकके लिये माँकी आवश्यकता है,

पर माँ अपने लिये बालककी जितनी आवश्यकता मानती है, उतना बालक अपने लिये माँकी आवश्यकता नहीं मानता। ऐसे ही हम अपने उद्धारका जितना विचार करते हैं, उससे भगवान् कम विचार नहीं करते। अत: आपको जितना मिला है, उसका सदुपयोग करो तो जो विलक्षणता पढ़े-लिखोंमें नहीं है, उद्धार करनेकी जो सामर्थ्य और समझ अच्छे-अच्छे पण्डितोंके पास नहीं है, वह आपके पास हो जायगी!

कोरी पुस्तक पढ़कर कोई पण्डित नहीं होता। जो जितना ज्यादा धनवान् है, जितना ज्यादा पढ़ा-लिखा है, उतनी ही उसको ज्यादा आफत है। अपनी योग्यतासे परमात्मा नहीं मिलते। योग्यतासे संसारमें नाम होता है, संसारकी वस्तु मिलती है। भगवान्के यहाँ योग्यताकी कमी नहीं है। आपकी योग्यता वहाँ काम करेगी, जहाँ योग्यताकी कमी है। जहाँ आपसे ज्यादा योग्यता है, वहाँ आपकी योग्यता कुछ काम नहीं करेगी। गाँवमें लखपतिकी बड़ी इज्जत होती है। परन्तु जहाँ सभी करोड़पति हों, वहाँ लखपतिकी क्या इज्जत है? ऐसे ही परमात्माके यहाँ समझकी कमी नहीं है; अत: वहाँ आपकी समझकी कोई जरूरत नहीं है। आपके पास अपने उद्धारके लिये काफी सामग्री है। केवल सरलतासे और विवेकपूर्वक उसका सदुपयोग करना है। उसका सदुपयोग कैसे करें—इसकी शिक्षा सत्संगसे, सद्विचारसे, प्राप्त विवेकका आदर करनेसे मिलती है। सदुपयोग करनेसे उद्धार हो जाता है—इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। जो बिलकुल गाँवमें रहनेवाले हैं, पढ़े-लिखे नहीं हैं, उनको परमात्मतत्त्वका बोध हो गया और बड़े-बड़े पण्डित रीते रह गये!

समय निरर्थक जाता है, समझ निरर्थक जाती है, सामर्थ्य निरर्थक जाती है, इसीलिये परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो रही है। इनका सदुपयोग करो। समझते हैं कि सच बोलना ठीक है, फिर भी झूठ बोलते हैं; न्याय करना ठीक है, फिर भी अन्याय करते हैं; किसीको दुःख देना ठीक नहीं है, फिर भी दुःख देते हैं—यह अपने ज्ञानका निरादर है। अपने ज्ञानका निरादर न करें, दुरुपयोग न करें तो उतने ज्ञानसे आपकी मुक्ति हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं है। जितना मिला है, उसका सदुपयोग ठीक करें तो पूर्णता हो जायगी।

❑❑

६. करण-निरपेक्ष परमात्मतत्त्व

श्रोता—करण-निरपेक्ष साधनकी दृष्टिसे जो कर्तव्य आप सिखाते हैं, उसका स्वरूप क्या है?

स्वामीजी—आप करण-निरपेक्ष साधनपर जोर मत लगाओ, प्रत्युत इस बातपर जोर लगाओ कि भगवान्‌की प्राप्तिके लिये जड़ चीज (करण आदि)-की सहायताकी आवश्यकता नहीं है। जैसे आपने सुना है कि करण एक है, ऐसे आप जानते हैं कि कारक कितने होते हैं? कारक छः होते हैं— कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण। कारक शब्दका अर्थ क्या है? जिससे क्रियाकी सिद्धि होती है, उसको कारक कहते हैं। कोई भी क्रिया कारकके बिना नहीं होती। अतः व्याकरणमें जहाँ इसका विवेचन हुआ है, वहाँ पहले ऐसा अर्थ किया है कि जो क्रियाका सम्बन्धी हो, उसको कारक कहते हैं। उसपर विचार करते-करते कहा कि षष्ठी कारक नहीं है; क्योंकि उसका क्रियाके साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। परन्तु '**राज्ञः पुरुषः गच्छति**' 'राजाका पुरुष जाता है'—इसमें राजाका सम्बन्ध पुरुषके साथ और पुरुषका सम्बन्ध गमनरूपी क्रियाके साथ होनेसे राजाका सम्बन्ध परम्परासे क्रियाके साथ हो गया; अतः राजा कारक होना चाहिये? ऐसी शंका होनेपर यह निर्णय किया गया कि जो क्रियाको पैदा करनेवाला हो, उसका नाम कारक है—'**क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्**'।

प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है—यह सबका अनुभव है। जैसे मैंने व्याख्यान आरम्भ किया तो उसकी समाप्ति

भी होगी। आप कोई भी काम करो, उसका आरम्भ और अन्त जरूर होता है। जिसका आरम्भ और अन्त होता है, वह अनन्तका प्रापक नहीं होता। जो खुद ही उत्पन्न और नष्ट होता है, वह अनन्तकी प्राप्ति करानेवाला कैसे होगा? वस्तुमात्र, व्यक्तिमात्र, परिस्थितिमात्र, क्रियामात्र उत्पन्न और नष्ट होनेवाली है। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली ही क्रिया होती है तथा उत्पन्न और नष्ट होनेवाले ही पदार्थ होते हैं। ऐसे उत्पन्न और नष्ट होनेवाले जड़के द्वारा अनुत्पन्न चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत जड़के त्यागसे चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति होती है। अतः करण-निरपेक्षका अर्थ केवल करणसे रहित ही नहीं है, प्रत्युत कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण—छहों कारकोंसे रहित है। कारकमात्र क्रियाजनक होते हैं और क्रिया उत्पन्न एवं नष्ट होनेवाली होती है। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली क्रियासे अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्ति कैसे होगी? अतः परमात्मतत्त्व कर्ता-निरपेक्ष है, कर्म-निरपेक्ष है, करण-निरपेक्ष है, सम्प्रदान-निरपेक्ष है, अपादान-निरपेक्ष है और अधिकरण-निरपेक्ष है। तात्पर्य है कि कोई भी कारक परमात्माको पकड़ नहीं सकता; क्योंकि सभी कारक उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। उत्पन्न और नष्ट होनेवालेके त्यागसे अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी तो किसकी प्राप्ति होगी? जहाँ उत्पन्न और नष्ट होनेवालेसे उपराम हुए, अनुत्पन्न तत्त्व प्राप्त हो जायगा।

वास्तवमें अनुत्पन्न तत्त्व अप्राप्त नहीं है। उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंका, वस्तुओंका सहारा ही उसमें बाधक है। उत्पन्न और नष्ट होनेवाली क्रिया, वस्तु, परिस्थिति, अवस्था, घटना

आदिका जो महत्त्व अन्तःकरणमें पड़ा हुआ है, यही उस तत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है। अतः करण-निरपेक्ष कहनेका तात्पर्य करणके साथ विरोध नहीं है, प्रत्युत उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुके द्वारा अनुत्पन्न तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती—इसमें तात्पर्य है।

श्रोता—नाशवान्‌का महत्त्व कैसे छूटे?

स्वामीजी—दूसरोंका हित करनेसे। अपनी शक्तिके अनुसार दूसरोंका हित करो। अन्नक्षेत्र खोलो, प्याऊ लगाओ, औषधालय खोलो। इस तरहसे लोगोंके हितकी भावना होनेसे महत्त्व छूटेगा। वस्तु हमारेको मिल जाय—यह जड़को खींचनेका उपाय है और जबतक जड़को खींचते रहोगे, तबतक चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। इन वस्तुओंके द्वारा दूसरोंका हित हो—यह जब होगा, तब मात्र क्रिया और पदार्थका प्रवाह लोगोंके हितकी तरफ हो जायगा और चिन्मय तत्त्व शेष रह जायगा, उसकी प्राप्ति हो जायगी। जड़ तो स्वतः नष्ट होता है। जड़का खिंचाव तो रह जाता है, पर जड़ नहीं रहता। बाल्यावस्था रह गयी क्या? नहीं रही तो युवावस्था रहेगी क्या? धनवत्ता रहेगी क्या? यह बनी रहे और मेरी तरफ आ जाय—ऐसी मान्यता ही बाधा है। अब इसकी जगह यह भाव हो जाय कि दूसरोंका हित हो, दूसरोंका भला हो तो जड़ताका त्याग हो जायगा और त्याग होते ही तत्काल परमशान्तिकी प्राप्ति हो जायगी—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। अतः करण-निरपेक्षका तात्पर्य त्यागमें है। जड़की सहायता जड़की प्राप्तिमें तो उपयोगी हो सकती है, पर चिन्मय तत्त्वकी प्राप्तिमें जड़की सहायता काम नहीं करती।

एक बात और बतायें। कोई आदमी सदावर्त खोलता है तो क्या उसका लक्ष्य यह होता है कि मैं दुनियामात्रकी भूख

मिटा दूँगा? क्या '**सर्वभूतहिते रताः**' का अर्थ यह होता है कि मैं सबका हित कर ही दूँगा? यह नहीं है। अपनी शक्ति दूसरोंकी सेवामें लगानेमें ही तात्पर्य है। सबकी भूख दूर करनेका, सबका दुःख दूर करनेका उसका ठेका नहीं है। जितना अन्न मैं खाता हूँ, उसके सिवाय अपने पास जो अन्न है, वह दूसरोंके काम आ जाय। '**सर्वभूतहिते रताः**' का तात्पर्य है—अपने स्वार्थका त्याग करना। कारण कि स्वार्थका जो लोभ है, यही तो बाधक है। ऐसे ही वस्तुओंका, पदार्थोंका, व्यक्तियोंका, अवस्थाओंका मनमें जो महत्त्व अंकित है, यही परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक है। जब दुनियामात्र मिलकर एक आदमीकी भी पूर्ति नहीं कर सकती, उसको सुखी नहीं कर सकती, तो फिर एक आदमी सम्पूर्ण दुनियाकी पूर्ति कैसे कर देगा? अपनी पूरी शक्ति लगा देनेकी ही जिम्मेवारी है, दूसरोंका दुःख दूर कर देनेकी जिम्मेवारी नहीं है।

श्रोता—हमारा तो सारा समय जड़ताकी प्राप्तिमें ही लग रहा है!

स्वामीजी—तो फिर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी अन्नदाता! और चाहे सो हो जाय! गीताने साफ कहा है कि जड़ चीजोंसे सुख भोगना और उनका संग्रह करना—इन दोमें जिसकी आसक्ति होती है, उसमें परमात्माको प्राप्त करनेका निश्चय भी नहीं हो सकता, प्राप्त करना तो दूर रहा (गीता २।४४)! संसारमें मेरा नाम हो जाय, मेरेको आराम मिले, मैं धनी बन जाऊँ—इस तरह जड़ चीजोंकी जबतक मनमें लालसा है, तबतक चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। यह तात्पर्य है करण-निरपेक्षका! आप ध्यान दें। करण-निरपेक्षका अर्थ है कि

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति जड़की अपेक्षा नहीं रखती, प्रत्युत जड़के त्यागकी अपेक्षा रखती है। क्रिया और पदार्थ, व्यक्ति और वस्तु, अवस्था और परिस्थिति—इनके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। इनकी उपेक्षा हो जाय, त्याग हो जाय, भीतरसे इनका महत्त्व हट जाय तो तत्काल प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि परमात्मा अप्राप्त नहीं है, प्रत्युत नित्यप्राप्त है। संसार अप्राप्त है, पर उसको प्राप्त मानते हैं, प्राप्त करना चाहते हैं, यही बाधा है। यह बाधा सुगमतासे दूर होती है—'**सर्वभूतहिते रताः**' होनेसे। प्राणिमात्रके हितमें हमारी प्रीति हो जाय। प्रीति होनेसे क्या होगा? स्वार्थकी जो भावना है, व्यक्तिगत सुखभोगकी जो इच्छा है, वह हटेगी और वह जितनी हटेगी, उतने ही आप चिन्मय तत्त्वके नजदीक पहुँच जाओगे। उस तत्त्वसे विमुखता हुई है, अलगाव नहीं हुआ है।

दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपने सुखभोगकी इच्छा मिटती है। माता बालकका पालन करती है तो वह बालकको भूखा नहीं रहने देती, खुद भूखी रह जाती है। ऐसे ही केवल दुनियामात्रका हित करनेकी जोरदार इच्छा होगी तो अपनी स्वार्थबुद्धिका त्याग सुगमतासे हो जायगा।

श्रोता—दो बात मालूम पड़ती है कि जड़ताका त्याग करना और अन्तःकरणको साधनरूपमें प्रयुक्त नहीं करना।

स्वामीजी—साधनमें प्रयुक्त न करनेका तात्पर्य है कि यह हमारा नहीं है और हमारे लिये नहीं है, औरोंका है और औरोंके लिये है। न अन्तःकरण हमारे लिये है, न बहिःकरण हमारे लिये है। न इन्द्रियाँ हमारे लिये हैं, न शरीर हमारे लिये है, न सम्पत्ति हमारे लिये है। हमारी कहलानेवाली जितनी

चीजें हैं, वे हमारी नहीं हैं और हमारे लिये भी नहीं हैं—ये दो बातें दृढ़ करनी हैं। स्वार्थबुद्धि, संग्रहबुद्धि, सुखबुद्धि, भोगबुद्धि नहीं होनी चाहिये, फिर सब ठीक हो जायगा यही करण-निरपेक्षका तात्पर्य है।

करण किसका नाम है? जिस साधनके अनन्तर तत्काल क्रियाकी सिद्धि हो जाय, उसका नाम करण है। जैसे, '**रामेण बाणेन हतो वाली**' 'रामके बाणसे बालि मरा' तो बालिके मरनेमें बाण हेतु हुआ; अतः बाण करण हुआ। यद्यपि बाणके चलनेमें धनुष, डोरी, हाथ आदि सब हेतु हैं, तथापि बालि बाणसे मरा है, धनुष, डोरी आदिसे नहीं। अतः जिससे बालि मर गया, उस बाणको करण कहेंगे। करणसे क्रियाकी सिद्धि होती है, उससे परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो जायगी?

श्रोता—महाराजजी! क्रियाकी सिद्धिमें तो कर्ता भी रहता है?

स्वामीजी—हाँ, कर्ता भी रहता है, कर्म भी रहता है, करण भी रहता है, सम्प्रदान भी रहता है, अपादान भी रहता है और अधिकरण भी रहता है।

श्रोता—फिर यह केवल करण-निरपेक्ष कैसे हुआ?

स्वामीजी—करण-निरपेक्ष इसलिये कहा है कि क्रियाकी सिद्धि करणके व्यापारके बाद ही होती है। करणका लक्षण बताया है—'**साधकतमं करणम्**' (पाणि० अ० १। ४। ४२)। साधक नहीं, साधकतर नहीं, साधकतम बताया है। क्रियाकी सिद्धिमें जो अत्यन्त उपकारक होता है, उसका नाम 'करण' होता है। अतः अत्यन्त उपकारक जो कारक है, वह करण भी जिसकी प्राप्तिमें हेतु नहीं है, फिर दूसरे कारक हेतु कैसे हो जायँगे? यह तात्पर्य है करण-निरपेक्ष कहनेका!

श्रोता—इसे यदि कारक-निरपेक्ष कहें तो क्या हर्ज है?

स्वामीजी—बिलकुल कारक-निरपेक्ष कह सकते हैं। परन्तु क्रियाकी निष्पत्ति करणके बाद होती है—'**क्रियाया निष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरं करणत्वं भवेत् तेन**'। क्रियाके होनेमें सब कारक कारण हैं—'**क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्**', पर करणके व्यापारमें क्रियाकी सिद्धि हो ही जाती है। अतः करण-निरपेक्ष कहनेसे कारक-निरपेक्ष हो गया।

श्रोता—इसका मतलब यह हुआ कि करणके द्वारा हम जो क्रिया करें, वह '**सर्वभूतहिते रताः**' होनी चाहिये?

स्वामीजी—ध्यान दें, परमात्मा क्रियारूप नहीं हैं। अतः परमात्माकी प्राप्तिमें प्राणिमात्रका हित कारण नहीं है, प्रत्युत प्राणिमात्रके हितका भाव कारण है। अतः अपना भाव, उद्देश्य, लक्ष्य बदल दिया जाय तो सब ठीक हो जायगा। जैसा भाव, उद्देश्य, लक्ष्य होगा, उसके अनुसार ही व्यवहार होगा। अतः लक्ष्य केवल दूसरोंके हितका हो, अपने स्वार्थ और सुखका न हो।

श्रोता—रामने बालिको मारनेका पहले निश्चय किया, फिर बाण काममें लिया। यदि बाण काममें नहीं लेते तो केवल निश्चयसे बालि मर जाता क्या?

स्वामीजी—क्रियाकी सिद्धिमें ही करणकी अपेक्षा है। परमात्मा क्रियाका विषय है ही नहीं। करण विशेष होनेसे क्रिया विशेष होगी, कर्ता कैसे विशेष हो जायगा? कलम अच्छी होनेसे लिखना अच्छा होगा, लेखक कैसे अच्छा हो जायगा? कल्याण करणका करना है कि कर्ताका करना है? मुक्ति करणकी होगी कि कर्ताकी होगी? करणके द्वारा कर्ताकी मुक्ति कैसे हो जायगी? करणके द्वारा तो क्रिया होगी।

क्रियाकी सिद्धिमें करण प्रधान है। अतः करण-निरपेक्ष कहनेसे स्वतः ही कारक-निरपेक्ष हो गया। कारकसे क्रियाकी सिद्धि हो जायगी, दुनियाका काम हो जायगा, पर परमात्मा कैसे प्राप्त होगा?

श्रोता—आप कहते हैं कि परमार्थका कार्य करना चाहिये, अन्नक्षेत्र खोलना चाहिये, प्याऊ लगानी चाहिये, तो उनका फल भोगनेके लिये पुनः जन्म लेना पड़ेगा और इस तरह जन्म-मरणसे कभी छुटकारा नहीं होगा!

स्वामीजी—पारमार्थिक कार्यसे कल्याण नहीं होता। कल्याण निष्कामभावसे होता है। बन्धन कामनासे ही होता है। कामना नहीं होगी तो कल्याण ही होगा, और क्या होगा? जन्म-मरणका कारण तो कामना ही है। अतः कामनाका त्याग करना है।

❑ ❑

७. स्वतःसिद्ध तत्त्व

एक वस्तुका निर्माण होता है, वस्तु बनायी जाती है और एक वस्तुका अन्वेषण होता है अर्थात् वस्तु ज्यों-की-त्यों मौजूद है, केवल उसपर दृष्टि डाली जाती है। वस्तुके निर्माणमें तो देरी लगती है, पर दृष्टि डालनेमें देरी नहीं लगती। वस्तु खोई हुई थी अथवा उधर खयाल नहीं था, खयाल करनेसे वह मिल गयी—इसमें निर्माण नहीं होता। इसपर आप थोड़ा विचार करें।

जहाँ निर्माण होता है, वहाँ कारक होते हैं। कारक वह होता है, जो क्रियाका जनक हो। क्रिया उसीमें होती है, जिसमें कुछ पैदा होता हो। परन्तु परमात्मतत्त्व स्वतः है। भगवान्‌ने कहा है—'**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**' (गीता १३।३१) 'यह पुरुष शरीरमें रहता हुआ भी न करता है, न लिप्त होता है।' अहंकारसे मोहित अन्तःकरणवाला मनुष्य अपनेको कर्ता मान लेता है—'**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। इसलिये सच्ची बातको स्वीकार कर ले कि मैं कुछ नहीं करता हूँ—'**नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**' (गीता ५।८) और—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८।१७)

'जिसका अहंकृतभाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

त्याग उसीका होता है, जिसका सम्बन्ध नहीं है। जिसका अटल सम्बन्ध होता है, उसका त्याग नहीं होता। तात्पर्य है कि वास्तवमें तो सम्बन्ध है नहीं, पर सम्बन्ध मान लिया—इस मान्यताका त्याग होता है। जैसे, सूर्यमेंसे कोई प्रकाश नहीं निकाल सकता; क्योंकि वे एक हैं। ऐसे ही अगर स्वयंमें कर्तृत्व होता तो निकलता नहीं। परन्तु स्वयंमें कर्तृत्व नहीं है, अहंकृतभाव नहीं है—'**न करोति न लिप्यते**' (गीता १३। ३१)। अहंकृतभाव बनाया हुआ है, भूलसे माना हुआ है, उसको छोड़ दे तो तत्त्व ज्यों-का-त्यों मिल जाय। इसलिये अर्जुनने कहा—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' (१८। ७३) स्मृति प्राप्त हो गयी, याद आ गयी। कोई बात याद आ गयी तो उसमें क्या परिश्रम करना पड़ा? याद भी करना नहीं पड़ता, प्रत्युत स्वतः याद आती है—'**स्मृतिर्लब्धा**'। पहले भूल गये थे, उधर खयाल नहीं था, अब याद आ गयी, खयाल आ गया। भक्तियोगमें हम भगवान्‌के हैं—यह याद आ गयी। ज्ञानयोगमें मेरा स्वरूप निर्विकार है—यह याद आ गयी। कर्मयोगमें संसार मेरा और मेरे लिये नहीं है—यह याद आ गयी। याद आना करण-सापेक्ष नहीं है, प्रत्युत करण-निरपेक्ष है। केवल करण-निरपेक्ष ही नहीं, कर्ता-निरपेक्ष, कर्म-निरपेक्ष, सम्प्रदान-निरपेक्ष, अपादान-निरपेक्ष और अधिकरण-निरपेक्ष भी है। उसमें कोई कारक लागू नहीं होता। कारण कि वह क्रियासाध्य वस्तु नहीं है, प्रत्युत स्वतःसिद्ध है।

जैसे, पहले हम नहीं जानते थे कि ये गंगाजी हैं। अब जान गये कि ये गंगाजी हैं तो इसमें क्या परिश्रम हुआ? जब गंगाजीको नहीं जानते थे, तब भी गंगाजी थीं। अब गंगाजीको जान गये तो भी गंगाजी हैं। गंगाजी तो ज्यों-की-

त्यों हैं। कभी गहरी नींद आती है तो जगनेपर 'हम कहाँ हैं'—इसका पता ही नहीं चलता। फिर खयाल जाते ही पता चलता है कि हम अमुक जगहमें हैं तो इसमें क्या परिश्रम होता है? केवल उधर दृष्टि नहीं थी। इसी तरह यह याद आ जाय कि हम तो परमात्माके हैं; हम कर्ता नहीं हैं; हम असंग हैं—'**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**' (बृहदारण्यक० ४। ३। १५)। यह शरीर तथा संसार पहले मेरा था नहीं, फिर मेरा रहेगा नहीं, अभी मेरा है नहीं—इस तरफ दृष्टि चली जाय। अब इसमें क्या उद्योग है? क्या परिश्रम है? ये हमारे कुटुम्बी हैं तो ये कितने दिनोंसे हैं और कितने दिनतक रहेंगे? ये पहले नहीं थे, पीछे नहीं रहेंगे और अब भी नहींमें ही जा रहे हैं। प्रत्यक्ष बात है! व्याख्यान देना आरम्भ किया तो उस समय जितना व्याख्यान देना बाकी था, उतना अब नहीं रहा, कम हो गया। ऐसे कम होते-होते वह समाप्त हो जायगा। पहले व्याख्यान नहीं था, पीछे व्याख्यान नहीं रहेगा और व्याख्यानके समय भी व्याख्यान नहींमें जा रहा है। इसी तरह जन्मसे पहले शरीर नहीं था, बादमें नहीं रहेगा और अब भी निरन्तर नहींमें जा रहा है। जितनी उम्र आ गयी, उतना शरीर छूट गया। अतः संसारका सम्बन्ध हरदम छूट रहा है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद था और सम्बन्ध-विच्छेद रहेगा तथा अब भी सम्बन्ध-विच्छेद ही हो रहा है।

श्रोता—महाराजजी! परमात्मामें तो क्रिया नहीं है; लेकिन साधन तो करण-सापेक्ष ही होना चाहिये?

स्वामीजी—आप करण-सापेक्ष साधन करो तो उसके लिये मैं मना नहीं करता। साधन दो तरहका होता है, एक तो जहाँ हम

स्थित हैं, वहाँसे ऊँचा उठना होता है और एक जहाँ हमें पहुँचना है, वहाँ प्रवेश होता है। ऊँचा उठनेके लिये तो करण-सापेक्ष है, पर प्रवेशमें करण-सापेक्ष नहीं है। जैसे हमें यहाँसे दूसरी जगह जाना हो तो यहाँसे चलना होगा, पर जहाँ जाना है, वहाँ प्रवेश होनेके बाद क्या चलना होगा? ऐसे ही जो वास्तविक तत्त्व है, उसको पहलेसे ही देखें तो वह ज्यों-का-त्यों ही है; अतः इसमें करण-सापेक्ष क्या होगा? केवल भूलको मिटाना है; जो गलती की है, उसका सुधार करना है।

गलतीको गलती समझते ही गलती मिट जाती है—यह एक कायदा है। यह सही नहीं है, गलत है—इतना जानते ही गलती मिट जाती है। इसमें उद्योग क्या है? जैसे मैंने कहा कि शरीर पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा तथा अभी जितने दिन शरीर रहा, उतने दिन हमारा और शरीरका सम्बन्ध-विच्छेद हुआ है। अब इसमें उद्योग क्या करोगे? साधन क्या करोगे? पहले उधर खयाल नहीं था, यह खयाल था कि हम तो जी रहे हैं। अब यह खयाल आ गया कि हम मर रहे हैं। केवल ज्ञानमें ही फर्क पड़ा। सही बात ध्यानमें आ गयी—यह फर्क पड़ा। इसमें करण-सापेक्ष साधन क्या हुआ? सीखना करण-सापेक्ष होगा; क्योंकि किसीने सिखाया, पुस्तक पढ़ी, याद किया, तो यह करण-सापेक्ष होगा; परन्तु वस्तुस्थितिमें करण-सापेक्ष कैसे होगा? जो है, उसकी तरफ केवल दृष्टि डालनी है—'***संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥***' (मानस १। ५८। ४)

❑❑

८. जीवकृत सृष्टिसे बन्धन

भगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

'हे धनंजय! मेरेसे बढ़कर इस जगत्का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी कारण नहीं है। जैसे सूतकी मणियाँ सूतके धागेमें पिरोयी हुई होती हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण जगत् मेरेमें ही ओत-प्रोत है।'

तात्पर्य है कि जैसे सूतकी मणियाँ हैं, सूतका ही धागा है, सब सूत-ही-सूत है, ऐसे ही संसारमें मैं-ही-मैं हूँ अर्थात् मेरे सिवाय कुछ नहीं है। अतः भगवान्की दृष्टिसे भी संसार भगवत्स्वरूप है और महात्माओंकी दृष्टिसे भी संसार भगवत्स्वरूप है— '**वासुदेवः सर्वमिति**' (गीता ७। १९)। फिर यह संसार कहाँ है? भगवान् कहते हैं कि जो अपरा प्रकृति है, उससे एक विलक्षण मेरी परा प्रकृति है, जिसको जीव कहते हैं। उस जीवने जगत्को धारण कर रखा है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। अतः जगत्से सम्बन्ध-विच्छेद करनेका दायित्व जीवपर ही है। जीवका धारण किया हुआ जगत् ही इसके दुःखका हेतु है। अब इसको समझानेके लिये एक बात कहता हूँ, आप ध्यान दें।

शास्त्रोंमें आया है कि सृष्टि दो तरहकी है। एक भगवान्की रची हुई सृष्टि है और एक जीवकी रची हुई सृष्टि है। भगवान्की रची हुई सृष्टि कभी किसीको दुःख नहीं देती। उसने कभी

दुःख दिया नहीं, कभी दुःख देगी नहीं और कभी दुःख दे सकती भी नहीं। भगवान्‌की रची हुई सृष्टि अगर जीवको दुःख देगी तो जीव दुःखसे कभी छूट सकेगा ही नहीं। तो फिर दुःख कौन देता है? जीवकी बनायी हुई सृष्टि ही दुःख देती है। जीवकी बनायी हुई सृष्टि क्या है? यह मेरी माँ है, मेरा बाप है, मेरी स्त्री है, मेरा बेटा है, मेरा भाई है, मेरी भौजाई है; ये हमारे पक्षके हैं, ये दूसरोंके पक्षके हैं; ये हमारी जातिके हैं, ये हमारी जातिके नहीं हैं—यह जो ममता-परताका भेद बनाया हुआ है, राग-द्वेष किया हुआ है, यह जीवकी रची हुई सृष्टि है। शरीर भगवान्‌का रचा हुआ है और उसके साथ सम्बन्ध जीवका रचा हुआ है। यह सम्बन्ध जीवकी सृष्टि है, जो दुःख देती है। जीव जिनके साथ अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ता, उनसे दुःख नहीं होता। राग और द्वेष ही जीवके शत्रु हैं—'**तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ**' (गीता ३। ३४)। जीव राग और द्वेष कर लेता है, मेरा और तेरा कर लेता है, यही वास्तवमें जीवको दुःख देता है। यह मेरा और तेरा, ठीक और बेठीक, अनुकूल और प्रतिकूल, ये हमारे हैं और ये तुम्हारे हैं—यह दशा जीवने धारण की है और इसीसे इसको दुःख पाना पड़ता है।

ईश्वरके रचित तो स्त्री-पुरुषोंके शरीर हैं। सबके शरीर ईश्वरकी प्रकृतिसे बने हुए हैं। इनके मालिक तो हैं परमात्मा और धातु चीज है प्रकृति। अतः यह सृष्टि न दुःख देनेवाली है और न सुख देनेवाली है। अगर देखा जाय तो यह सृष्टि इसके व्यवहारको सिद्ध करती है, इसकी मदद करती है। दुःख तो वहीं होता है, जहाँ राग-द्वेष (मेरा-तेरा पैदा) कर लेते

हैं और यह मनुष्यका बनाया हुआ है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)। जीव जगत्‌को धारण करता है, इसीसे सुख होता है, दुःख होता है, बन्धन होता है, चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति होती है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)। सत्त्व, रज, तम—तीनों गुण तो बेचारे पड़े रहते हैं, कोई बाधा नहीं देते। परन्तु इनका संग करनेसे जीव ऊर्ध्वगति, मध्यगति अथवा अधोगतिमें जाता है अर्थात् सत्त्वगुणका संग करनेसे ऊर्ध्वगतिको, रजोगुणका संग करनेसे मध्यगतिको और तमोगुणका संग करनेसे अधोगतिको जाता है। गुणोंका संग यह स्वयं करता है। अपरा प्रकृति किसीके साथ कोई सम्बन्ध नहीं करती। सम्बन्ध न प्रकृति करती है, न गुण करते हैं, न इन्द्रियाँ करती हैं, न मन करता है, न बुद्धि करती है। यह स्वयं ही सम्बन्ध करता है, इसीलिये सुखी-दुःखी हो रहा है, जन्म-मरणमें जा रहा है। जीव स्वतन्त्र है; क्योंकि यह परा (श्रेष्ठ) प्रकृति है। वह तो बेचारी अपरा प्रकृति है। वह कुछ नहीं करती। उससे सम्बन्ध जोड़कर, उसका सदुपयोग-दुरुपयोग करके ऊँच-नीच योनियोंमें जाते हैं, भटकते हैं। यह '**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७। ५)-का अर्थ हुआ।

अपनेको सुख-दुःख किसका होता है? हमारा कोई सम्बन्धी है, प्रेमी है, वह मर जाता है तो दुःख होता है और जी जाता है, अच्छा हो जाता है तो सुख होता है। यह मेरापन और तेरापन मनुष्यका बनाया हुआ है। यदि मनुष्य निर्मम और निरहंकार हो जाय, न प्रकृतिके साथ ममता रखे, न अहंता रखे तो दुःख मिट जायगा और शान्ति प्राप्त हो जायगी—'**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति**' (गीता २। ७१)। यह

कर्मयोगकी दृष्टिसे है। ज्ञानयोगकी दृष्टिसे निर्मम-निरहंकार होनेपर ब्रह्मप्राप्तिका पात्र हो जायगा— '**अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥**' (गीता १८।५३)। भक्तियोगकी दृष्टिसे निर्मम-निरहंकार होनेपर सुख-दुःखमें सम हो जायगा, क्षमावान् हो जायगा और भगवान्का प्यारा हो जायगा—'**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी**' (गीता १२।१३)। इस तरह कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनोंसे मनुष्य निर्मम और निरहंकार हो जाता है।

यह ममता और अहंता हमारी बनायी हुई है। यह जीवकृत सृष्टि है। जीवकृत सृष्टि ही जीवको दुःख देती है, बाँधती है। जीव स्वयं ही सृष्टि बनाकर बँधता है। जैसे रेशमका कीड़ा रेशम बनाकर उसमें बँध जाता है, उसमें ही फँसकर मर जाता है, इसी तरहसे जीवने अपना जाल बुन लिया, राग और द्वेष कर लिया। इसीसे यह फँसा हुआ है, बँधा हुआ है। इसीने जगत्को धारण कर रखा है। जगत्की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कारणरूपसे देखें तो प्रकृति है और मालिकरूपसे देखें तो परमात्मा है। बाँधनेवाला जगत् तो जीवने ही बना रखा है। यदि यह निर्मम और निरहंकार हो जाय तो निहाल हो जाय! भगवान्ने बड़ी कृपा करके दो बात कह दी कि तुम '**निर्ममो निरहंकारः**' हो जाओ, केवल अपनी बनायी हुई अहंता और ममताको मिटा लो तो ज्ञान हो जायगा, पूर्णता हो जायगी। यह अहंता-ममता आपकी बनायी हुई है। पहले जन्ममें और जगह ममता थी, इस जन्ममें और जगह ममता है। इस शरीरमें रहते हुए भी आप मकान बदल देते हो, सम्बन्ध बदल देते हो, दुकान बदल देते हो, अपना बना लेते हो और फँस

जाते हो। अतः आपने ही इसको जगत्-रूपसे धारण कर रखा है। परमात्माकी दृष्टिमें यह जगत् नहीं है। महात्माकी दृष्टिमें भी यह जगत् नहीं है। अगर अहंता-ममता छोड़ दो तो जगत् नहीं रहेगा, दुःख मिट जायगा।

श्रोता—स्वयंमें कर्तापनका भाव आ जाता है!

स्वामीजी—हाँ, उसको आप ही स्वयंमें लाते हैं। यह मेरा है, यह तेरा है; यह मेरे अनुकूल है, यह मेरे प्रतिकूल है; यह हमारे पक्षका है, यह दूसरे पक्षका है; यह हमारे सम्प्रदायका है, यह दूसरे सम्प्रदायका है—यह अपना खुदका ही बनाया हुआ है। इसलिये इसका त्याग करनेका दायित्व जीवपर है। अगर यह परमात्माका बनाया हुआ होता तो इसके त्यागका दायित्व परमात्मापर होता।

परमात्माकी बनायी सृष्टिमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि जो कुछ होता है, वह आपमें बिलकुल दखल नहीं देता। वस्तुएँ आपके व्यवहारमें काम आती हैं, आपपर कोई बन्धन नहीं करतीं, आपको परवश नहीं करतीं, परतन्त्र नहीं करतीं। आप खुद ही उनमें अहंता-ममता करके फँस जाते हैं। अतः '**ययेदं धार्यते जगत्**' का तात्पर्य है कि बन्धन आपका ही बनाया हुआ है।

सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे जीव मोहित हो जाता है—'**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्**' (गीता ७। १३)। सात्त्विकी, राजसी और तामसी वृत्तियोंसे मोहित होकर जीव उनमें फँस जाता है। परन्तु न सात्त्विकी वृत्ति हरदम रहती है, न राजसी वृत्ति हरदम रहती है और न तामसी वृत्ति हरदम रहती है। गुणोंका तो नाशवान् स्वभाव है, उनका नाश होता ही रहता है। आप कितना ही अच्छा मानो, मन्दा मानो; भला

मानो, बुरा मानो, कैसा ही मानो, वे गुण तो नष्ट होते ही हैं। उनमें परिवर्तन तो होता ही रहता है। आप ही सम्बन्ध जोड़ करके उनको पकड़ लेते हो। परा, श्रेष्ठ प्रकृति होते हुए भी आपने अपरा प्रकृतिको धारण कर रखा है, जन्म-मरणको धारण कर रखा है, महान् दुःखको धारण कर रखा है। आप छोड़ दो तो छूट जायगा। प्रत्यक्ष उदाहरण है कि आपकी कन्या बड़ी हो जाती है तो चिन्ता होने लगती है और जब घर-वर अच्छा मिल जाता है तथा आप कन्यादान कर देते हो तो आपकी वह चिन्ता मिट जाती है। कन्या वही है, आप वही हो, सृष्टि वही है, पर आपको चिन्ता नहीं है। कारण कि जबतक 'मेरी है', तबतक चिन्ता है और अब 'मेरी नहीं है' तो अब चिन्ता नहीं है। तात्पर्य है कि अपनी अहंता और ममतासे ही दुःख होता है।

अहंताको लेकर 'मैं साधु हूँ, मैं ऐसा हूँ, मेरेको ऐसा कह दिया, मेरेको ऐसा कर दिया'—यह आफत किसने पैदा की है? हम ऐसे-ऐसे हैं, हम पढ़े-लिखे हैं; हम कौन हैं, समझते हो आप?— यह आफत आपने ही बनायी है। आपने ही अपमान पकड़ लिया, मान पकड़ लिया, महिमा पकड़ ली, निन्दा पकड़ ली, अनुकूलता पकड़ ली, प्रतिकूलता पकड़ ली। यह आपकी ही पकड़ी हुई है। आप न पकड़ो तो कोई दुःख देनेवाला है नहीं, हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। अपनी सृष्टि बनाकर आप ही फँस गये। आपने ही जगत्‌को धारण कर लिया, नहीं तो भगवान् कहते हैं कि सब कुछ मेरेसे ही व्याप्त है—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९।४), '**येन सर्वमिदं ततम्**' (गीता ८।२२; १८।४६)।

ये बातें याद कर लेनेमात्रकी नहीं हैं। याद करोगे तो जैसे मैं व्याख्यान देता हूँ, वैसे आप भी दे दोगे, पर उससे कल्याण नहीं होगा। ये बातें मूलमें समझनी हैं कि हमें इसमें फँसना नहीं है, मैं-मेरा नहीं करना है। *'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥'* (मानस ३।१५।१)। मैं और मेरा, तू और तेरा, यह और इसका, वह और उसका—यही बन्धन है, जो जीवका बनाया हुआ है। इसको वह छोड़ दे तो निहाल हो जाय।

जबतक मैं और मेरेपनको धारण किये रहोगे, तबतक दुःख नहीं मिटेगा। यह मैं-मेरापन ही खास बन्धन है।

मैं मेरे की जेवरी, गल बँध्यो संसार।
दास कबीरा क्यों बँधे, जाके राम अधार॥

सब बन्धनोंकी एक ही चाबी है—मैं-मेरेका त्याग। मैं-मेरेको त्याग दो तो बन्धन है ही नहीं।

श्रोता—पहले ममताका त्याग होगा या अहंताका?

स्वामीजी—आपकी मरजी आये सो कर लो। ममताका सर्वथा त्याग कर दो तो अहंताका त्याग हो जायगा और अहंताका सर्वथा त्याग कर दो तो ममताका त्याग हो जायगा। जो आपको सुगम पड़े, वह कर लो। एकका त्याग करो तो दूसरेका त्याग अपने-आप हो जायगा। अहंताके साथ ममता और ममताके साथ अहंता रहती है। ममताका त्याग करो तो अहंता सर्वथा चली जायगी और अहम् ही छोड़ दो ममता कहाँ टिकेगी? आप करके देख लो।

❑❑

९. दुःखका कारण—संकल्प

मनुष्यको दुःख देनेवाला खुदका संकल्प है। ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यह जो मनकी धारणा है, इसीसे दुःख होता है। अगर वह यह संकल्प छोड़ दे तो एकदम योग (समता)-की प्राप्ति हो जायगी—'**सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते**' (गीता ६। ४)। अपना ही संकल्प करके आप दुःख पा रहा है मुफ्तमें! संकल्पोंका कायदा यह है कि जो संकल्प पूरे होनेवाले हैं, वे तो पूरे होंगे ही और जो नहीं पूरे होनेवाले हैं, वे पूरे नहीं होंगे, चाहे आप संकल्प करें अथवा न करें। सब संकल्प किसीके भी पूरे नहीं हुए और ऐसा कोई आदमी नहीं है, जिसका कोई संकल्प पूरा नहीं हुआ। तात्पर्य है कि कुछ संकल्प पूरे होते हैं और कुछ संकल्प पूरे नहीं होते—यह सबके लिये एक सामान्य विधान है। जैसा हम चाहें, वैसा ही होगा—यह बात है नहीं। जो होना है, वही होगा।

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

(मानस १।५२।४)

इसलिये अपना संकल्प रखना दुःखको, पराधीनताको निमन्त्रण देना है। अपना कुछ भी संकल्प न रखें तो होनेवाला संकल्प पूरा हो जायगा। जैसा तुम चाहो, वैसा ही हो जाय—यह हाथकी बात नहीं है। अतः संकल्प करके क्यों अपनी इज्जत खोते हो? कुछ आना-जाना नहीं है! अगर मनुष्य संकल्पोंका त्याग कर दे तो योगारूढ़ हो जाय, तत्त्वकी प्राप्ति हो जाय, मुक्त हो जाय, भक्त हो जाय, जीवन्मुक्त हो जाय; जो कुछ बड़ा-से-बड़ा काम है, वह हो जाय; यह मनुष्यजन्म सफल हो जाय, कुछ

भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहे! अतः अपना संकल्प कुछ नहीं रखो। वह संकल्प चाहे भगवान्‌के संकल्पपर छोड़ दो, चाहे संसारके संकल्पपर छोड़ दो, चाहे प्रारब्ध (होनहार)-पर छोड़ दो और चाहे प्रकृतिपर छोड़ दो।* जो अच्छा लगे, उसीपर छोड़ दो तो दुःख मिट जायगा। भगवान्‌पर छोड़ दो तो जैसा भगवान् करेंगे, वैसा हो जायगा। संसारपर छोड़ दो तो संसार (माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्ब-परिवार आदि)-की जैसी मर्जी होगी, वैसे हो जायगा। अपने प्रारब्धपर छोड़ दो तो प्रारब्धके अनुसार जैसा होना है, वैसा हो जायगा। अपना कोई संकल्प नहीं करना है। अपना संकल्प रखकर बन्धनके सिवाय और कुछ कर नहीं सकते। होगा वही जो भगवान् करेंगे, जो प्रारब्धमें है अथवा जो संसारमें होनेवाला है।

भगवान्‌ने कहा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २।४७) 'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं।' ऐसा करेंगे और ऐसा नहीं करेंगे, शास्त्रसे विरुद्ध काम नहीं करेंगे—इसमें तो स्वतन्त्रता है, पर दुःखदायी परिस्थिति नहीं आये—इसमें स्वतन्त्रता नहीं है। दुःखदायी और सुखदायी परिस्थिति तो आयेगी ही; आप चाहो तो आयेगी, न चाहो तो आयेगी। करनेमें सावधान रहना है। शास्त्रकी, सन्त-महात्माओंकी आज्ञाके अनुसार काम करना है। इसमें कोई भूल होगी तो वह मिट जायगी। कभी भूलसे कोई विपरीत कार्य हो भी जायगा तो वह ठहरेगा नहीं, टिकेगा नहीं, मिट जायगा। खास

* अपना संकल्प भगवान्‌पर छोड़ दो तो भक्ति मिलेगी, संसारपर छोड़ दो तो निष्कामता आयेगी, प्रारब्धपर छोड़ दो तो निश्चिन्तता आयेगी और प्रकृतिपर छोड़ दो स्वतन्त्रता आयेगी।

बात इतनी करनी है कि अपना संकल्प नहीं रखना है। अपना कोई संकल्प न रहे तो आदमी सुखी हो जाय! 'यूँ भी वाह-वा है और वूँ भी वाह-वा है' ऐसा हो जाय तो भी ठीक, वैसा हो जाय तो भी ठीक!

रज्जब रोष न कीजिये, कोई कहे क्यों ही।
हँसकर उत्तर दीजिये, हाँ बाबाजी यों ही॥

चाहे संसारके संकल्पमें अपना संकल्प मिला दो, चाहे प्रभुके संकल्पमें अपना संकल्प मिला दो, चाहे प्रारब्धमें अपना संकल्प मिला दो। जैसा होना है, वैसा हो जायगा; कूदा-कूदी क्यों करो! अपने सब संकल्प छोड़ दो तो जीवन महान् पवित्र हो जायगा। जो अपने-आप होता है, उसमें अपवित्रता नहीं आती, वह ठीक ही होता है। संसारके संकल्पसे होगा तो ठीक होगा, भगवान्‌के संकल्पसे होगा तो ठीक होगा, प्रारब्धसे होगा तो ठीक होगा। बेठीक होगा ही नहीं। बेठीक तो हम कर लेते हैं। अपना संकल्प कर लेते हैं तो बेठीक हो जाता है।

एक स्फुरणा होती है और एक संकल्प होता है। कोई बात याद आती है—यह 'स्फुरणा' है और ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये—यह 'संकल्प' है। संसारकी स्फुरणा होती रहती है और मिटती रहती है। आप जिस स्फुरणाको पकड़ लेते हो, वह संकल्प हो जाता है। संकल्पमें मनुष्य बँध जाता है—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५।१२)। संकल्पसे कामना पैदा हो जाती है—'**संकल्पप्रभवान्कामान्**' (गीता ६।२४), जो सम्पूर्ण पापों और दुःखोंकी जड़ है। जो सब संकल्पोंका त्याग कर देता है, वह योगारूढ़ हो जाता है। कितनी सीधी-सरल बात है! इसमें बेठीक होगा ही नहीं।

आप कितना ही ठीक समझो या बेठीक समझो; जो होना है, वह होगा ही। जो अनुकूल या प्रतिकूल होनेवाला है, वह तो होगा ही। सर्दी आनी है तो आयेगी ही, गरमी आनी है तो आयेगी ही। आप सुखी-दुःखी हो जाओ तो आपकी मरजी! वह आपके सुख-दुःखके अधीन नहीं है। इस तरह अपने-अपने प्रारब्धका फल आयेगा ही। आप सुखी हो जाओ तो आयेगा, दुःखी हो जाओ तो आयेगा। एकदम सच्ची बात है! जो नहीं होना है, वह नहीं होगा। जो होना है, वह हो जायगा। जो होगा, वह हम अपने-आप देख लेंगे। वह कोई छिपा थोड़े ही रहेगा! अतः चतुर वही है, जो अपना कोई संकल्प नहीं रखता। सीधी-सादी बात है, अपना संकल्प न रखे तो निहाल हो जाय आदमी! क्यों संकल्प रखे और क्यों दुःख पाये!

अपने अनुकूलमें राजी होना और प्रतिकूलमें नाराज होना—ये दोनों ही व्यथा हैं। भगवान् कहते हैं कि 'इन्द्रियोंके जो विषय हैं, वे अनुकूलता और प्रतिकूलताके द्वारा सुख-दुःख देनेवाले हैं। वे आने-जानेवाले और अनित्य हैं। उनको तुम सह लो। सुख-दुःखमें सम रहनेवाले जिस धीर मनुष्यको वे व्यथा नहीं पहुँचाते, हलचल पैदा नहीं करते, वह मुक्तिका पात्र हो जाता है, उसका कल्याण हो जाता है (गीता २। १४-१५)। गुणोंका जो संग है, वृत्तियोंके साथ जो आसक्ति है, बस, यही ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है—'**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**' (गीता १३। २१)।

संकल्प मिट जाता है। कभी पूरा होकर मिट जाता है, कभी न पूरा होकर मिट जाता है। पूरा होना है तो पूरा होकर मिट जायगा, पूरा नहीं होना है तो ऐसे ही मिट जायगा।

यह तो मिटनेवाली चीज है—'**आगमापायिनोऽनित्याः**'। इसको सह लो, बस—'**तांस्तितिक्षस्व**' (गीता २। १४)। ऐसा हो गया तो वाह-वाह, ऐसा नहीं हुआ तो वाह-वाह! जीवन्मुक्त हो जाओगे! '**सोऽमृतत्वाय कल्पते**' (गीता २। १५)—परमात्मप्राप्तिकी सामर्थ्य आ जायगी। महान् शान्ति, महान् आनन्द अपने-आप आयेगा। अपने उद्योगसे किया हुआ ठहरता नहीं और अपने-आप आया हुआ जाता नहीं। लोगोंकी दृष्टिमें हम महात्मा, जीवन्मुक्त बन जायँगे और अपनी दृष्टिमें महान् शान्तिको प्राप्त हो जायँगे। लोक और परलोक दोनों सुधर जायँगे। इतनी-सी बात है कि अपना कोई संकल्प न रखें। यही वास्तवमें त्याग है। संसारकी वस्तुओंका त्याग असली त्याग नहीं है। अगर संसारकी वस्तुओंका त्याग ही त्याग हो तो मरनेवाले सब त्यागी ही होते हैं! शरीरको नहीं पूछते, धनको नहीं पूछते, कुटुम्बको नहीं पूछते! न तार है, न चिट्ठी है, न समाचार है! पीछे आकर पूछते ही नहीं कि कौन कैसा है? पूरा त्याग कर दिया तो मुक्ति हो जानी चाहिये? परन्तु वस्तुओंके छूटनेसे मुक्ति नहीं होती, मनका संकल्प छोड़नेसे मुक्ति हो जाती है।

स्फुरणा तो आती-जाती रहती है। जैसे, वायु आयी और चली गयी, ठण्डी आयी और चली गयी, गरमी आयी और चली गयी, वर्षा आयी और चली गयी, आँधी आयी और चली गयी, ऐसे ही स्फुरणा आयी और चली गयी। उसको पकड़ो मत तो वह अपने-आप मिट जायगी। परन्तु उसको पकड़ लोगे तो वह संकल्प हो जायगा और संकल्पसे कामना पैदा हो जायगी। स्फुरणासे कामना पैदा नहीं होती। चलते-चलते रास्तेमें वृक्ष दीख गया, पत्थर दीख गया तो दीख गया, पर जहाँ मनमें आया कि

यह पत्थर तो बहुत बढ़िया है, वहाँ मन चिपक जायगा। वह संकल्पका रूप धारण कर लेगा। आप छोड़ना चाहो तो वह छूट जायगा, इसमें परवशता नहीं है।

संकल्पके दो भाग हैं, एक तो आवश्यक संकल्प है और एक अनावश्यक संकल्प है। जैसे, अपने शरीर-निर्वाहके लिये अन्न, जल, वस्त्रकी आवश्यकता मनमें पैदा होती है तो यह आवश्यक संकल्प है; और बैठे-बैठे यों ही मनमें विचार किया कि यह होना चाहिये, यह नहीं होना चाहिये तो यह अनावश्यक संकल्प है। आवश्यकता तो पूरी होगी, पर अनावश्यकता कभी पूरी नहीं होगी। आप संकल्प करो तो आवश्यकता पूरी हो जायगी और संकल्प न करो तो आवश्यकता पूरी हो जायगी। संकल्प करनेपर आवश्यकता पूरी होगी तो अभिमान आ जायगा। परन्तु बिना संकल्प किये आवश्यकता पूरी होगी तो अभिमान नहीं आयेगा।

शुभ काम करनेका संकल्प हो जाय तो उसको जल्दी शुरू कर देना चाहिये—'**शुभस्य शीघ्रम्**'। फिर करेंगे—यह नहीं होना चाहिये। समयका पता नहीं है। काल सबको खा जाता है। अच्छा विचार हो तो काल खा जायगा और बुरा विचार हो तो काल खा जायगा। यदि मनमें बुरा विचार आ जाय तो 'थोड़ा ठहरो, थोड़ा ठहरो' ऐसा होनेसे फिर वह नहीं रहेगा और अच्छा विचार आ जाय तो 'फिर करेंगे, फिर करेंगे' ऐसा होनेसे फिर वह नहीं रहेगा, काल उसको खा जायगा। शुभ अथवा अशुभ काममें देरी करनेसे वैसा भभका नहीं रहता, कमजोर होकर मिट जाता है।

श्रोता—स्वाभाविक शान्ति कैसे बनी रहे?

स्वामीजी—अपना संकल्प छोड़ दो तो अशान्ति रहेगी ही नहीं। अपना कोई संकल्प मत रखो तो शान्तिके सिवाय क्या रहेगा? केवल शान्ति, शुद्ध शान्ति रहेगी। अपना संकल्प ही अपनेको दुःख देता है और कोई दुःख देनेवाला नहीं है। विपरीत-से-विपरीत परिस्थिति आ जाय, बीमारी आ जाय, धन चला जाय, बेटा मर जाय आदि जो होनेवाला है, वह होगा और होकर मिट जायगा। या तो वह मिट जायगा या शरीर मिट जायगा। यह रहेगा नहीं, पक्की बात है। उत्पन्न होनेवाली वस्तु मात्र नष्ट होनेवाली है। इसलिये किसी संकल्पको पकड़े ही नहीं तो शान्तिकी प्राप्ति हो जायगी।

❑ ❑
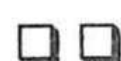
१०. दुःख-नाशका उपाय

सन्तोंसे, शास्त्रोंसे मेरेको ऐसी बातें मिली हैं, जिनसे इस वर्तमान जीवनमें मनुष्यमात्र महान् आनन्दको प्राप्त कर सकते हैं। इसमें केश जितना भी सन्देह नहीं है। पुण्यात्मा हो, पापात्मा हो, बुद्धिमान् हो, बुद्धि कम हो, पढ़ा-लिखा हो, अपढ़ हो, भाई हो, बहन हो, सनातनी हो, बौद्ध हो, मुसलमान हो, अंग्रेज हो, कोई क्यों न हो, वह इसी जीवनमें महान् आनन्दको प्राप्त कर सकता है। उन बातोंमेंसे एक बात आज विशेषतासे कहता हूँ।

हम जो सुखी-दुःखी होते हैं, यह हमारी गलती है। इसमें गलती क्या है? लक्ष्मणजीने अध्यात्मरामायणमें निषादराज गुहसे कहा है—

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः॥

(२।६।६)

'सुख-दुःखको देनेवाला दूसरा कोई नहीं है। दूसरा सुख-दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है। मैं करता हूँ—यह वृथा अभिमान है। सब लोग अपने-अपने कर्मोंकी डोरीसे बँधे हुए हैं।'

यही बात तुलसीकृत रामायणमें भी आयी है—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥

(मानस २।९२।२)

सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई है ही नहीं—यह खास सूत्र है! दूसरा दुःख देता है—यह कुबुद्धि है, कुत्सित बुद्धि है, खोटी बुद्धि है। अमुक आदमीने मेरेको दुःख दे दिया—यह सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी गलत है। इस विषयमें एक बात तो यह है कि परमात्मा परम दयालु हैं, परम हितैषी हैं, अन्तर्यामी हैं और सर्वसमर्थ हैं। ऐसे परमात्माके रहते हुए, उनकी जानकारीमें कोई भी किसीको दुःख दे सकता है क्या? दूसरी बात यह है कि अगर दूसरा दुःख देता है तो दुःख कभी मिटनेका है ही नहीं; क्योंकि दूसरा तो कोई-न-कोई रहेगा ही। कहीं जाओ, किसी भी योनिमें जाओ, देवता बन जाओ, राक्षस बन जाओ, असुर बन जाओ, भूत-प्रेत-पिशाच बन जाओ, मनुष्य बन जाओ, दूसरा तो रहेगा ही। फिर दुःख कैसे मिटेगा? ये दोनों बातें बड़ी प्रबल हैं।

हमारे सामने सुख और दुःख दोनों आते हैं। सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं है, प्रत्युत सब अपने किये हुए कर्मोंके फलको भोगते हैं। पातंजलयोगदर्शनमें लिखा है—'**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः**' (२।१३) अर्थात् पहले किये हुए कर्मोंके फलसे जन्म, आयु और भोग होता है। भोग नाम किसका है? '**अनुकूलवेदनीयं सुखम्**', '**प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्**' और '**सुखदुःख अन्यतर साक्षात्कारो भोगः**' अर्थात् सुखदायी और दुःखदायी परिस्थिति सामने आ जाय और उस परिस्थितिका अनुभव हो जाय, उसमें अनुकूल-प्रतिकूलकी मान्यता हो जाय, इसका नाम 'भोग' है। अब एक बात बड़े रहस्यकी, बहुत मार्मिक और कामकी है। आप ध्यान दें। आपने अच्छा काम किया है तो सुखदायी परिस्थिति आपके सामने आयेगी और बुरा

काम किया है तो दुःखदायी परिस्थिति आपके सामने आयेगी। यह तो है कर्मोंकी बात। अब परिस्थितिको लेकर सुखी-दुःखी होना केवल मूर्खता है। वह परमात्माका विधान है, जो हमारे कर्मोंका नाश करके हमें शुद्ध करनेके लिये हुआ है। वह परमात्मा कैसे किसीको दुःख देगा? मैं तो यहाँतक कहता हूँ कि सुख-दुःख देनेके लिये परिस्थितिके पास समय भी नहीं है! वह बेचारी तो अपनी धुनमें जा रही है, आपको छूती ही नहीं, फिर वह आपको सुख-दुःख कैसे दे सकती है? आप सुख-दुःख मान लेते हो, जो केवल मूर्खता है। इसीलिये सत्संगसे, सद्विचारोंसे, सद्भावोंसे आदमी सदा मस्त, मौजमें रह सकता है; क्योंकि परिस्थिति दुःख देती ही नहीं। दुःख तो उसको पकड़ करके आप कर रहे हो। अनुकूल परिस्थिति मिले तो उसमें आप सुख मान लेते हो और प्रतिकूल परिस्थिति मिले तो उसमें आप दुःख मान लेते हो, यह गलती होती है आपकी। वास्तवमें परिस्थिति तो जा रही है बेचारी! दिन-रातकी तरह यह सुखदायी-दुःखदायी परिस्थिति आती रहेगी। जैसे दिनके बाद रात और रातके बाद दिन आता रहता है, ऐसे ही सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता रहेगा।

मनुष्यके लिये कल्याणकी बात खुली है। मनुष्य-शरीर केवल अपना कल्याण करनेके लिये है, भोग भोगनेके लिये नहीं—***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'*** (मानस ७। ४४। १)। सुख-दुःख दो तरहके होते हैं। हमारे पास धन, सम्पत्ति, वैभव, बेटा, पोता, मकान आदि अनुकूल सामग्री है तो इसको देखकर लोग कहते हैं कि यह बहुत सुखी है। हमारे पास सामग्री नहीं है; खानेको अन्न नहीं, पहननेको वस्त्र नहीं, रहनेको मकान

नहीं—ऐसी दशा है तो इसको देखकर लोग कहते हैं कि यह बहुत दुःखी है। एक तो सुख-दुःखकी यह परिभाषा है। दूसरी, जो मनमें हरदम प्रसन्न रहता है, कभी दुःखी नहीं होता, उसको सुखी कहते हैं और जो मनमें दुःखी रहता है, उसको दुःखी कहते हैं। इस प्रकार एक तो सुख-सामग्रीका नाम सुख है और दुःख-सामग्रीका नाम दुःख है तथा एक हृदयमें प्रसन्नताका नाम सुख है और हृदयमें जलनका नाम दुःख है। इनमें सामग्रीवाला सुख-दुःख तो परिस्थितिका है और हृदयका सुख-दुःख मूर्खताका है। इस मूर्खताको मिटानेकी खास जिम्मेवारी मनुष्यके ऊपर है। जैसे किसी भाषाका ज्ञान न हो तो उस अज्ञानको दूर करनेके लिये हम वह भाषा सीख सकते हैं, ऐसे ही सुख-दुःख हमारेमें है ही नहीं—इस विद्याको मनुष्यमात्र सीख सकता है। इस ज्ञानके लिये ही मानवशरीर मिला है। अतः मानवशरीरमें आकर सुखी-दुःखी नहीं होना है, प्रत्युत सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचा उठना है। ऊँचा उठना क्या होता है? कि न सुख ही पहुँचता है और न दुःख ही पहुँचता है। पातंजलयोगदर्शनके व्यासभाष्यमें एक श्लोक आया है—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्याऽशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान्प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

(१।४७ का व्यासभाष्य)

अर्थात् जैसे पर्वतपर खड़ा हुआ मनुष्य नीचे पृथ्वीपर खड़े लोगोंको देखता है, ऐसे ही प्रज्ञारूपी प्रासादपर खड़ा हुआ अशोच्य पुरुष शोक करनेवाले लोगोंको देखता है।

समाधि-अवस्थामें योगीकी बुद्धि ऋतम्भरा अर्थात् सत्यको धारण करनेवाली हो जाती है—'**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा**' (योगदर्शन

१।४८)। विवेक-विचारसे भी ऐसी बुद्धि प्राप्त हो जाती है। जैसे पृथ्वीपर कभी बाढ़ आती है, कभी आग लगती है, कभी सुखदायी परिस्थिति आती है, कभी दुःखदायी परिस्थिति आती है, तरह-तरहकी परिस्थितियाँ आती हैं, पर पर्वतपर खड़े हुए मनुष्यके पास उनमेंसे कोई भी परिस्थिति नहीं पहुँचती। वह केवल देखता है, सुखी-दुःखी नहीं होता। इसको सुख-दुःखसे ऊँचा उठना कहते हैं और ऐसी स्थिति आपकी, हमारी, सबकी हो सकती है।

कर्म तीन तरहके होते हैं—शुक्ल (पुण्यकर्म), कृष्ण (पापकर्म) और मिश्रित। साधारण मनुष्योंके तो ये तीन तरहके कर्म होते हैं, पर कर्मफलका त्याग करनेवाले योगीको किसी भी कर्मका भोग नहीं होता—'**कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्**' (योगदर्शन ४।७), '**न तु संन्यासिनां क्वचित्**' (गीता १८।१२)। उसके पास सांसारिक सुख-दुःख पहुँचते ही नहीं। जब ये पहुँचते ही नहीं, तो फिर वह सुखी-दुःखी कैसे होगा? परिस्थिति कर्मनिर्मित है। जैसे कर्म किये, वैसी परिस्थिति सामने आ जाती है, पर वह सुखी-दुःखी नहीं करती। भागवतमें एक कथा आती है। बाल्यावस्थामें नारदजी महाराजकी माँ मर गयी। बालककी माँ मर जाय तो वह बड़ा दुःखी हो जाता है, पर नारदजी दुःखी नहीं हुए, प्रत्युत उन्होंने इसको भगवान्‌का मंगलमय विधान ही माना। नारदजीकी भजनमें रुचि थी। भजनमें माँ बाधक थी; अतः वह मर गयी तो भजनकी बाधा मिट गयी। इसलिये नारदजी राजी हो गये। तात्पर्य है कि परिस्थिति आदमीको दुःखी नहीं करती। वह मूर्खतासे ही दुःख पाता है। सुख-दुःखसे सब-के-सब ऊँचे उठ सकते हैं, इसमें सन्देहकी बात नहीं है।

दो बातें मूर्खतासे होती हैं कि दुःख तो दूसरेने दे दिया— '**परो ददातीति**' और सुख मैं अपने उद्योगसे कर लेता हूँ— '**अहं करोमीति**'। अगर अपने उद्योगसे सुख होता तो आज कोई दुःखी नहीं होता। दूसरेको दुःख देनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता—यह सिद्धान्त है।

श्रोता—कोई आदमी किसीके पीछे ही पड़ जाय दुःख देनेके लिये तो वह दुःखमें निमित्त हुआ कि नहीं?

स्वामीजी—वह तो मूर्खतामें निमित्त हुआ, दुःख तो उसको मिलनेवाला ही मिलेगा। जो दुःख देनेके लिये पीछे पड़ा है, उसको भयंकर पाप लगेगा और भयंकर दुःख भोगना पड़ेगा। परन्तु जिसको दुःख मिलता है, उसका तो प्रारब्ध है। सर्वसमर्थ और परम सुहृद् परमात्माके रहते हुए, परमात्माके जीते-जी कोई दुःख दे सकता है? मैंने पहले भी एक बात सुनायी थी कि नगरके किनारे जंगलमें एक बाबाजी बैठे भजन कर रहे थे। वहाँसे कई आदमी धन लूट करके भाग रहे थे। पुलिस पीछे पड़ी थी। उन्होंने देखा कि मारे जायँगे तो बाबाजीके पास धन रखकर छिप गये। पुलिस वहाँ आयी और धन देखकर बाबाजीको मारने लगी। बाबाजी बोले—***'बधूं तू जाणे छे'*** 'हे नाथ! सब आप जानते हो'। इसका अर्थ यह हुआ कि मैंने अपनी जानकारीमें किसीको दुःख दिया नहीं और मार पड़ रही है तो मैं जानता नहीं कि किस कर्मका फल है। हे भगवन्! आप ही जानो, हमारेको इसका पता नहीं है। बिना कसूर मार पड़ रही है, इतनेपर भी उन्होंने किसीको दोष नहीं दिया। अतः जिसको मार पड़ती है, उसमें ऐसा धैर्य चाहिये। दूसरा बेचारा दुःख दे नहीं सकता, हम अपनी

मूर्खतासे दुःख पा रहे हैं। एक बात मैं और कहता हूँ। दुःख देनेवाला दुःख दे नहीं सकेगा, प्रत्युत सुख देगा! मैंने ऐसा देखा है। दूसरा करना चाहता है अनिष्ट और हमारा होता है इष्ट। यह मेरे अनुभवकी बात है।

श्रोता—महाराजजी! सुख-दुःख माना हुआ है, है तो नहीं!

स्वामीजी—बिलकुल माना हुआ है, तभी तो मिटता है, नहीं तो मिटे कैसे? सत्‌का कभी अभाव नहीं होता। यदि सुख-दुःखकी सत्ता होती तो वह कभी मिट सकता ही नहीं। अतः सुख-दुःख है नहीं, केवल माना हुआ है। इस मान्यताको छोड़ना है।

श्रोता—यह छूटता क्यों नहीं?

स्वामीजी—आप छोड़ते क्यों नहीं? आप कहते हो कि छूटता नहीं है, मैं कहता हूँ कि छोड़ते नहीं हैं! आप पकड़ना छोड़ दो तो कैसे दे देगा दुःख? दे नहीं सकता। परन्तु दुःख देनेका भाव रखनेवाला दोषी, पापी जरूर बनेगा, इसमें सन्देह नहीं है। अब एक बहुत बड़ी भूल बताता हूँ। हम जिससे दुःख मिटे, उस उपायको न करके परिस्थिति बदलनेका उद्योग करते हैं, जो सर्वथा निष्फल है। निर्धन है तो धनवान् हो जाय, रोगी है तो नीरोग हो जाय, अपमानित है तो सम्मानित हो जाय, निन्दनीय है तो प्रशंसनीय हो जाय—यह परिस्थिति बदलनेका उद्योग है, जो बिलकुल निरर्थक होगा; क्योंकि यह वृथाभिमान है—'**अहं करोमीति वृथाभिमानः**'। आप परिस्थिति बदल सकोगे नहीं। इसलिये एक मार्मिक बात बताता हूँ कि परिस्थिति न बदल करके जो परिस्थिति मिली है, उसका सदुपयोग करो। बुखार आ गया, घाटा लग गया, अपमान हो गया, निन्दा हो गयी तो अब इसका सदुपयोग कैसे करें?

कोई काँटा निकाले तो हमें पीड़ा तो होती है,पर काँटा निकलनेसे बड़ा भारी लाभ होता है। इसी तरह अपमान होता है, घाटा लगता है तो इससे हमारे पाप नष्ट होते हैं। प्रतिकूल परिस्थितिसे पाप नष्ट होते हैं—यह बात तो बहुत जगह मिलेगी, पर इसमें एक मार्मिक बात है कि प्रतिकूल परिस्थिति कल्याणकी साधन-सामग्री है। भोगनेसे पाप तो अपने-आप नष्ट हो जाते हैं। बिना चाहे, रोते-रोते भोगोगे तो भी पाप नष्ट हो जायँगे। परन्तु उसका सदुपयोग करो तो कल्याण हो जायगा। सुखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सेवा करना, दूसरेको सुख पहुँचाना। दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सुखकी आशा न रखना। सुखदायी परिस्थितिमें सुखका भोग करना गलती है और दुःखदायी परिस्थितिमें सुखकी आशा करना गलती है। गलती मिटाना सत्संगका काम है। सत्संगसे यह गलती मिट जायगी।

मेरे मनमें इस बातको लेकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि मनुष्यको ऐसा मौका मिला है, जिसमें वह अपना कल्याण करके सुख-दुःख दोनोंसे ऊँचा उठ सकता है। अतः तुच्छ भोगोंमें फँसकर अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिये। आज दिनतक किसीको मनचाहा भोग नहीं मिला, किसीकी मनचाही बात नहीं हुई। एक व्याख्यानदाताने कहा था कि मनचाही तो रामजीके बापकी भी नहीं हुई, आप कैसे कर लोगे?

श्रोता—कोई दुःख देता है तो बदला लेनेकी मनमें आती है; अतः क्या करना चाहिये?

स्वामीजी—बदला लेनेकी भावना हमारी गलती है, भूल है। वह तो हमारे कर्मोंका फल भुगताकर हमें पवित्र कर रहा है। अतः यदि आपको बदला चुकाना हो तो सबसे पहले

उसकी सेवा करो। जो दुःख देनेकी चेष्टा करता है, वह (पापोंका फल भुगताकर) आपको शुद्ध कर रहा है, आपका उपकार कर रहा है। उसका बदला लेना हो तो अपने तनसे, मनसे, वचनसे, धनसे, विद्यासे, बुद्धिसे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे उसकी सेवा करो, उसे सुखी बनाओ।

श्रोता—महाराजजी! परिस्थितिका सदुपयोग करना तो ठीक है, लेकिन अगर प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय, घाटा लग जाय तो उसका प्रतीकार तो करना ही पड़ता है!

स्वामीजी—उसके लिये मैं मना करता ही नहीं! उसका प्रतीकार करो, धन कमाओ, धनका सदुपयोग करो, कोई विपरीत परिस्थिति न आये—इसकी सावधानी रखो। परन्तु आप दुःखदायी परिस्थितिको दूर कर दोगे—यह हाथकी बात नहीं है। उद्योग करनेके लिये, कर्तव्य-कर्मका पालन करनेके लिये मैं मना करता ही नहीं। परन्तु आप सुखदायी परिस्थिति बना लोगे—यह आपके हाथकी बात नहीं है। भगवान्ने कहा है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २।४७) 'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलमें कभी नहीं'। अतः फल आपके अधिकारकी बात नहीं है, पर कर्तव्य-कर्म खूब डट करके, अच्छी तरहसे करना चाहिये। उसमें कभी नहीं चूकना चाहिये। परन्तु किसीको दुःख देना, किसीको नीचा दिखाना—ऐसी जो धारणा है, यह महान् गलत है। इससे भयंकर दुःख पाना पड़ेगा, बच नहीं सकेगा कभी!

❑❑

११. अनित्य सुखकी रुचि मिटानेकी आवश्यकता

श्रोता—अखण्ड साधन कैसे हो?

स्वामीजी—अखण्ड साधन होगा सांसारिक सुखकी आसक्ति छोड़नेसे। सांसारिक वस्तुओंके संग्रहकी और उनसे सुख लेनेकी रुचिका अगर आप नाश कर दें तो निहाल हो ही जाओगे, इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। मैं रुपयोंका त्याग करनेकी बात नहीं कहता हूँ, साधु बननेकी बात भी नहीं कहता हूँ। मैं आपसे हाथ जोड़कर विशेषतासे प्रार्थना करता हूँ कि संग्रहकी और भोगकी जो रुचि है, उस रुचिका आप किसी तरहसे नाश कर दें। अगर उस रुचिका नाश हो जाय तो बहुत बड़ा लाभ होगा। रुचिसे आपका और दुनियाका पतन होगा, इसके सिवाय कुछ नहीं मिलेगा। संग्रह और भोगकी रुचि बड़ा भारी पतन करनेवाली चीज है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। नाशवान्‌की तरफ रुचि महान् अनर्थका हेतु है। विष खा लेनेसे इतनी हानि नहीं है, जितनी हानि इससे है—'**हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु**'। अष्टावक्रगीतामें लिखा है—

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान्विषवत्त्यज। (१। २)

'यदि मुक्तिकी इच्छा रखते हो तो विषयोंका विषके समान त्याग कर दो।'

एक ही बात है कि संसारकी रुचि नष्ट होनी चाहिये। उस रुचिकी जगह भगवान्‌की रुचि हो जाय, तत्त्वज्ञानकी रुचि

हो जाय, मुक्तिकी रुचि हो जाय, भगवत्प्रेमकी रुचि हो जाय, भगवद्दर्शनकी रुचि हो जाय तो निहाल हो जाओगे, इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है। जीनेकी रुचिसे आप जी नहीं सकते। जीनेकी रुचि रखते हुए भी मरना पड़ेगा। अगर जीनेकी रुचिका त्याग कर दो तो कोई हानि नहीं होगी, प्रत्युत बड़ा भारी लाभ होगा। रुचिको कम कर दिया जाय तो भी बहुत लाभ होता है। रुचिके वशमें न हों तो भी बड़ा भारी लाभ होता है—'**तयोर्न वशमागच्छेत्**' (गीता ३। ३४)। अगर इसको नष्ट कर दो, तब तो कहना ही क्या है!

श्रोता—रुचि नष्ट नहीं होती है महाराज!

स्वामीजी—रुचि नष्ट नहीं होती है—यह आपके वर्तमानकी दशा है। रुचि नष्ट न होती हो—ऐसी बात है ही नहीं। यह रहनेकी चीज नहीं है। बालकपनमें खिलौनोंमें जो रुचि थी, वह आज है क्या? कंकड़-पत्थरोंमें, काँचके लाल-पीले टुकड़ोंमें जो रुचि थी, वह रुचि आज है क्या? रुचि मिटती नहीं—यह बात नहीं है, रुचि तो टिकती ही नहीं, ठहरती ही नहीं। आप नयी-नयी रुचि पैदा कर लेते हो और कहते हो कि मिटती नहीं! रुचि टिक सकती नहीं। नाशवान्‌की रुचि नाशवान् ही होती है। परमात्माकी रुचि हो तो वह मिटेगी नहीं, प्रत्युत परिणाममें परमात्माकी प्राप्ति करा देगी। गीता कहती है—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ (६। ४४)

'योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है।'

ऐसी जिज्ञासा न हो तो कोई बात नहीं। संसारकी रुचि हट

जाय तो योगकी जिज्ञासा भी हो जायगी। रुचि हटती नहीं—यह बिलकुल गलत बात है। रुचि मिटती नहीं—यह तो आपकी अभीकी दशा है, जिसको लेकर आप बोल रहे हो।

भोग और संग्रहकी रुचि महान् अनर्थकारक है। सन्तोंके संगको मुक्तिका दरवाजा और भोगोंकी रुचिवाले पुरुषोंके संगको नरकोंका दरवाजा बताया गया है—'**महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्**' (श्रीमद्भा० ५। ५। २)। भोगोंका संग इतना नुकसानदायक नहीं है, जितना भोगोंकी रुचिवालोंका संग नुकसानदायक है। कोढ़ीके संगसे कोढ़ हो जाय, इस तरहकी बात है। अतः भोगोंकी रुचि रखनेमें आपका और दुनियाका बड़ा भारी नुकसान है और इसका त्याग करनेमें बड़ा भारी हित है। इसलिये कृपा करके दुनियाका हित करो। हित न कर सको तो कम-से-कम अहित तो मत करो।

भोगोंकी रुचिकी पूर्ति कभी नहीं होगी। इसकी तो निवृत्ति ही होगी। रुचिकी पूर्ति असम्भव है। ज्यों-ज्यों भोग भोगोगे, रुपयोंका संग्रह करोगे, त्यों-त्यों उनकी रुचि बढ़ती जायगी—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'*।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(श्रीमद्भा० ९। १९। १४)

विषयोंके उपभोगसे यह रुचि शान्त नहीं होती। आगमें सुहाता-सुहाता घी डालते रहें तो क्या आग बुझ जायगी? वह तो और बढ़ेगी। ऐसे ही भोगोंकी और संग्रहकी रुचि आगे-आगे बढ़ती रहेगी। अन्तमें सब छोड़कर मरना पड़ेगा। यह

जो मनमें आदर-सत्कारकी, मान-बड़ाईकी रुचि है कि लोग मेरेको अच्छा कहें, बड़ा कहें, आराम दें, सुख दें, मेरे अनुकूल बन जायँ, यह बहुत ही घातक है। साधकके लिये तो महान् ही घातक है। इस रुचिसे केश जितना भी फायदा नहीं है और नुकसान महान् है।

यह बात बिलकुल नहीं है कि रुचि नष्ट नहीं होती। अगर रुचि नष्ट न होती तो किसीकी भी नष्ट नहीं होनी चाहिये। आजतक किसीकी भी रुचिकी पूर्ति नहीं हुई, पर यह हटी है सैकड़ोंकी—'**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः**' (गीता ४।१०)। रुचिका नाश करनेवाले इतिहासमें सैकड़ों-हजारों आदमी मिलेंगे, पर रुचिकी पूर्ति करनेवाला एक भी आदमी नहीं मिलेगा। जिसकी पूर्ति होती ही नहीं, उसको छोड़नेमें क्या हानि है आपको?

श्रोता—महाराजजी, बालकपनमें जो रुचि थी, वह तो खत्म हो गयी। बालकपनतक तो वह रुचि रहेगी।

स्वामीजी—बालकपनवाली रुचिमें फर्क नहीं पड़ेगा, चाहे आप बूढ़े हो जाओ। विषय बदल गया, स्थान बदल गया, पर रुचि वही (पहलेवाली) है, मिटी नहीं है। अब आप मिटाओगे तो टिकेगी नहीं, रखोगे तो मिटेगी नहीं। आप रखोगे तो उसको मिटानेकी ताकत ब्रह्माजीमें भी नहीं है। बड़े-बड़े सन्त-महात्मा, जीवन्मुक्त महापुरुष भी आपकी रुचिको मिटा नहीं सकते। आप मिटाओ तो मिट जायगी। आप नहीं छोड़ोगे तो वे कैसे छुड़वायेंगे? आप चाहो तो छूट सकती है और नहीं छूटे तो प्रार्थना करो, रोओ, भगवान्‌से कहो कि यह छूटती नहीं तो

भगवान्‌की कृपासे छूट जायगी। खास बात है कि आप इसको छोड़नेका विचार ही नहीं करते। एक बहुत ही मार्मिक बात है कि सांसारिक रुचिके त्यागकी जितनी महिमा है, उतनी दया, क्षमा, उदारता आदि अच्छे-अच्छे गुण धारण करनेकी भी नहीं है। यह जो निषेधात्मक साधन है, यह विध्यात्मक साधनसे ऊँचा है, पर लोग इस तरफ ध्यान कम देते हैं। निषेधात्मक साधन करनेसे विध्यात्मक साधन स्वतः होता है। जो साधन स्वतः होता है, उसका अभिमान नहीं होता।

गीताने सुखकी रुचिको ज्ञानियों (विवेकियों)-का नित्य वैरी बताया है—'**ज्ञानिनो नित्यवैरिणा**' (३। ३९)। अज्ञानीको तो भोगोंमें सुख दीखता है, पर ज्ञानी सुखकी रुचि पैदा होते ही समझता है कि यह मेरा पतन करनेवाली चीज है। इसकी कभी पूर्ति नहीं होगी। यह आग है, आग—'**दुष्पूरेणानलेन च**'! इससे बड़ा भारी नुकसान है। इसलिये सज्जनो! कम-से-कम इतना तो करो कि रुचिके वशमें होकर कोई कार्य मत करो। उसके वशीभूत होकर कार्य करते रहोगे तो वह कभी मिटनेवाली नहीं है। हजारों, लाखों, करोड़ों, अरबों जन्मोंतक भी वह मिटेगी नहीं।

आप कितने ही पढ़ जाओ, कितने ही व्याख्यान देनेवाले बन जाओ, कितनी ही पुस्तकें लिख दो, कितने ही बड़े बन जाओ, पर जबतक संयोगजन्य सुखकी रुचि रहेगी, तबतक शान्ति नहीं मिलेगी। यह सुखकी रुचि आपका पतन करेगी ही। जितना नुकसान हो रहा है, सब इसीसे हो रहा है। संसारमें जितने कराह रहे हैं, दुःख पा रहे हैं, रो रहे हैं, कष्ट पा रहे हैं, चिल्ला रहे हैं, नरकोंमें पड़े हैं, चौरासी लाख योनियोंमें

पड़े हैं, सब इस रुचिका ही फल है। इस रुचिके रहते हुए आपको किसी तरहसे शान्ति नहीं मिलेगी। इसलिये कृपा करके इस रुचिका नाश करो। आपसे न हो तो भगवान्‌से प्रार्थना करो कि हे नाथ! इस रुचिका नाश हो जाय!

आपके भीतर रुचिका नाश करनेकी रुचि पैदा हो जाय अर्थात् आपका पक्का विचार हो जाय कि इसको मिटाना है तो यह मिट जायगी।

❑ ❑

१२. राग-द्वेषसे रहित स्वरूप

एक बातपर आप विशेष ध्यान दें और उसको ठीक तरहसे समझ लें। गरमी पड़े तो आपपर गरमीका असर पड़ता है और सरदी पड़े तो सरदीका असर पड़ता है। असर पड़नेपर भी क्या आप यह मानते हो कि मेरेमें गरमी है या मेरेमें सरदी है? मेरेमें सरदी-गरमी नहीं है, प्रत्युत आगन्तुक सरदी-गरमीका असर पड़ता है। ऐसे ही आपपर राग-द्वेषका आगन्तुक असर पड़ता है; परन्तु आप कहते हो कि मेरेमें राग-द्वेष हैं! यह बहुत बड़ी गलती है। भगवान् साफ कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

(गीता २।१४)

'हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियोंके जो विषय हैं, वे तो शीत—अनुकूलता और उष्ण—प्रतिकूलताके द्वारा सुख और दुःख देनेवाले हैं। वे आने-जानेवाले और अनित्य हैं। हे भरतवंशोद्भव अर्जुन! उनको तुम सहन करो।'

इस श्लोकमें भी भगवान्‌ने 'शीत' और 'उष्ण' शब्द दिये हैं। शीतका भी असर पड़ता है और उष्णका भी असर पड़ता है, पर आपमें शीत और उष्णता नहीं है। ये आने-जानेवाले और अनित्य हैं, पर आप ज्यों-के-त्यों रहनेवाले और नित्य हो—'**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः**' (गीता २।२४)। इस बातको आप गहरा उतरकर समझो। यह कोई तमाशा नहीं है। बहुत ही मार्मिक और तत्काल कल्याण करनेवाली सच्ची बात है।

अगर आपमें राग है तो वह हरदम रहना चाहिये अर्थात् आप रहोगे तो राग रहेगा, आप नहीं रहोगे तो राग नहीं रहेगा। अगर आपमें द्वेष है तो आप रहोगे तो द्वेष रहेगा, आप नहीं रहोगे तो द्वेष नहीं रहेगा। आप तो रहते हो, पर राग-द्वेष रहते नहीं, आते-जाते हैं, तो फिर ये आपमें कहाँ हैं?

श्रोता—'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' भी तो गीता बोल रही है महाराजजी!

स्वामीजी—वह भी हो जायगा। अब विवाह हुआ तो छोरा-छोरी अभी कैसे हो जायँगे? पहले 'विवाह हो गया'—इस बातको मान तो लो, फिर छोरा-छोरी ही नहीं, पोता-पोती भी हो जायँगे! इसमें तो समय भी लगेगा, पर इस बातको माननेसे समय नहीं लगेगा। केवल तमाशेकी तरह मान लेनेकी बात मैं नहीं कहता हूँ। मैं जो बात कहता हूँ, उसका आप अनुभव करो। राग-द्वेष हमारेमें हरदम रहते हैं, यह आपने कैसे, किस आधारपर माना? बताओ। मैंने यह बताया कि शीत-उष्णका असर पड़ता है तो आपमें शीत-उष्ण रहते हैं क्या?

श्रोता—रहते तो नहीं हैं, लेकिन असर पड़ता है!

स्वामीजी—ठीक बात है कि असर पड़ता है, पर 'हमारेमें राग-द्वेष हैं' यह बात आप छोड़ दो तो निहाल हो जाओगे! बहुत लाभकी बात है। अगर चोर और डाकूको रहनेकी जगह मिल जाय तो क्या वे उसको छोड़ेंगे? ऐसे ही 'हमारेमें राग-द्वेष हैं'—ऐसा मानकर आप राग-द्वेषको रहनेकी जगह दे देते हो तो क्या वे आपको छोड़ेंगे? केवल पोथीकी बात नहीं है, आप सबके अनुभवकी बात है। क्या राग-द्वेष आपके साथ हरदम रहते हैं? बताओ।

श्रोता—नहीं रहते हैं।

स्वामीजी—तो फिर ये हमारेमें हैं—यह आपने किस आधारपर माना?

श्रोता—हमारेमें नहीं हैं, आते-जाते हैं।

स्वामीजी—कृपा करके इतनी बात आप मान लो तो मैं निहाल हो जाऊँ! इतनी बात आप स्वीकार कर लो कि ये आने-जानेवाले हैं। यही तो भगवान् कहते हैं—'**आगमापायिनोऽनित्याः**'। ये अनित्य हैं और आप नित्य हैं—'**नित्यः सर्वगतः**'। अगर ये आपमें हैं तो नित्य रहने चाहिये!

आप अनुकूलता-प्रतिकूलताको जितना अधिक महत्त्व दोगे, उतना ही उनका असर अधिक होगा। जितना कम महत्त्व दोगे, उतना ही असर कम होगा। महत्त्व नहीं दोगे तो असर नहीं होगा। उनके महत्त्वको तो आप छोड़ते नहीं और जो बात मैं कहता हूँ, उसको मानते नहीं!

श्रोता—आप कहते हैं कि भगवत्प्राप्ति तत्काल हो सकती है, लेकिन गीताने कहा है—'**कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।**'

स्वामीजी—अगर असली भूख लगे तो भोजनमें देरी नहीं लगती। प्यास अगर जोरसे लगे तो पानी पीनेमें देरी नहीं लगती। ऐसे ही भगवत्प्राप्तिकी असली भूख लगे तो उसमें देरी नहीं लगती। देरी आपकी भूखमें है, भगवत्प्राप्तिमें थोड़े ही है!

परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कठिन नहीं है। अनित्य चीजको छोड़नेमें कठिनता माननेसे ही परमात्माकी प्राप्तिको कठिन मान लिया है। वास्तवमें अनित्य चीजको छोड़ना कठिन नहीं है;

क्योंकि वह तो अपने-आप ही छूट रही है। कठिनाई तो उसको रखनेमें ही है!

श्रोता— राग-द्वेषका आना-जाना बन्द हो जाय—इसका भी कोई उपाय है?

स्वामीजी—यह हो जायगा। पहले विवाह हो जाय, फिर बेटा हो जायगा, पोता हो जायगा, पड़ पोता हो जायगा; सब हो जायगा। अगर आप स्वीकार कर लो कि राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं तो इतनी भी देरी नहीं लगेगी। कारण कि बेटा-पोता तो पैदा होंगे; उसमें समय लगेगा। परन्तु इसमें समय नहीं लगेगा; क्योंकि परमात्मा पैदा होनेवाले नहीं हैं, वे तो सदा मौजूद हैं। पैदा होनेवाले तो राग-द्वेष हैं। राग-द्वेषको आदर देनेसे ही परमात्माका अनुभव नहीं हो रहा है। इसलिये कम-से-कम यह बात तो मान लो कि ये हमारेमें नहीं हैं, आगन्तुक हैं। अपना जो स्वरूप है, वह सत्तारूप है। सत्तामात्रमें कभी राग-द्वेष होते ही नहीं।

श्रोता—बात तो ठीक है कि ये आगन्तुक हैं।

स्वामीजी—यों हाँ-में-हाँ नहीं मिलाना है। एकान्तमें बैठकर आप इसका अनुभव करो कि बात ठीक है, ये आते-जाते रहते हैं और मैं निरन्तर रहता हूँ।

श्रोता—ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है कि ये हमारेसे अलग हैं।

स्वामीजी—इस अनुभवका आदर करो, असरका आदर मत करो अन्नदाता! इतना कहना मेरा मान लो कि असरको महत्त्व मत दो, प्रत्युत इस बातको महत्त्व दो कि ये मेरेसे अलग हैं।

श्रोता—मार तो पड़ जाती है न महाराजजी?

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि पड़ने दो। बचपनमें पढ़ाई बहुत बुरी लगती थी, पर बैठे-बैठे पढ़ाई हो गयी कि नहीं? एक दिन वह था, जब पता नहीं लगता था कि दूसरा क्या कह रहा है, पर आज मैं आपको पढ़ानेको तैयार हूँ!

श्रोता—स्वामीजी! आपने बताया कि पदार्थ तो आने-जानेवाले हैं, लेकिन उनका सम्बन्ध स्वयंमें है!

स्वामीजी—सम्बन्ध माना है बाबा, है नहीं! मैंने कभी नहीं कहा कि सम्बन्ध स्वयंमें है। मैंने कहा है कि सम्बन्ध आपने माना है। जो माना है, उसको आप छोड़ो।

श्रोता—इन आने-जानेवाले पदार्थोंसे स्वयंका जोर अधिक होता है क्या?

स्वामीजी—आने-जानेवाले पदार्थोंका जोर नहीं है, आपकी मान्यताका जोर है। आपने मान लिया तो अब इसको ब्रह्माजी भी नहीं छुड़ा सकते। किसी सन्तकी, गुरुकी ताकत नहीं कि छुड़ा सके। आपने पकड़ लिया तो वे कैसे छुड़ा देंगे? आपकी मान्यताको ढीली करनेके लिये कहता हूँ कि ये आगन्तुक हैं, आप आगन्तुक नहीं हो, फिर ये आपके साथी कैसे हुए? इनको आप अपनेमें क्यों मानते हो? कृपा करके इनको अपनेमें मत मानो। क्या आपको दया नहीं आती? एक भिक्षुक आपसे बात कह रहा है, उसपर दया तो आनी चाहिये! आप गृहस्थोंसे कोई साधु टुकड़ा माँगता है तो उसको देते हो कि नहीं? ऐसे ही मेरेको भी टुकड़ा दे दो, इतनी बात मान लो कि राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं! इसमें शंका सम्भव ही नहीं है; क्योंकि दो और दो चार ही होते हैं। मैं यह चाहता हूँ कि आप इस बातके पीछे पड़ जाओ। तत्काल भगवत्प्राप्ति जिनको होती है, हो ही जाती है।

आपकी ऐसी इच्छा ही कहाँ है? इस बातको समझनेके लिये इतना परिश्रम ही कहाँ है? मेरेको आप क्षमा कर देना, मेरेमें जितनी लगन है, उतनी लगन आपमें नहीं है, जबकि आपमें लगन ज्यादा होनी चाहिये। मैंने कल कहा, आज कहा और फिर कहनेको तैयार हूँ! मेरेसे रातमें पूछो, दिनमें पूछो, सुबहको पूछो, शामको पूछो; रात्रिमें मेरेको नींदसे उठाकर पूछो, मैं नाराज नहीं होऊँगा। मैं तो निहाल हो जाऊँगा। जैसे कोई बड़ा ग्राहक मिलनेसे दुकानदार राजी हो जाता है, उससे मैं कम राजी नहीं होता हूँ! अतः मेरेपर कृपा करो, स्वयंपर कृपा करो और नहीं समझमें आये तो पूछो।

श्रोता—राग-द्वेषके आनेसे निषिद्ध क्रिया हो जाती है!

स्वामीजी—राग-द्वेषका असर पड़नेसे, उसके वशीभूत होनेसे निषिद्ध क्रिया हो जाती है तो भले ही हो जाय, पर राग-द्वेष हमारेमें नहीं हैं—इसपर तो कायम रहो। भले ही निषिद्ध क्रिया हो, पर ये अपनेमें कैसे हुए! अपनेमें हैं ही नहीं।

श्रोता—जबतक क्रिया होगी, तबतक तो दुःखी होते रहेंगे!

स्वामीजी—भले ही दुःखी हो जाओ या सुखी हो जाओ, पर दुःखमें भी आप वही रहते हो, सुखमें भी आप वही रहते हो। सुख-दुःख तो होते हैं, पर आप रहते हो। साफ और सीधी बात है! यह अन्वेषण है, निर्माण नहीं है। संसारका काम देरीसे होता है, उसमें समय लगता है, पर इसमें समय नहीं लगता। आज मैंने जो बात कही है, उसको समझनेमें क्या वर्ष लगता है? हाँ, आप मान लोगे कि समय लगेगा तो जरूर समय लगेगा; क्योंकि आप और हम भगवान्‌रूपी कल्पवृक्षके नीचे हैं। अगर आप मान लें कि ये राग-द्वेषादि मेरेमें हैं ही नहीं तो समय

लगनेकी क्या बात है? कही और चट मानी! सीधी बात है। सत्संगमें आनेवाले भाई-बहनोंकी कई बातें मैंने सुनी हैं। जो पहले रोते थे, कुछ दिन सत्संगमें आनेके बाद उनका रोना बन्द हो गया! तात्पर्य है कि सत्संगकी बातोंमें एक ताकत है। यह कोई तमाशा नहीं है। परन्तु आप तो कमर कसकर तैयार हैं कि कुछ भी कहो, हम तो नहीं मानेंगे! अब बताओ, मैं क्या करूँ? आपको नहीं जँचती हो तो शंका करो। आप कहते हैं कि हमारेपर असर पड़ जाता है। इन्द्रियाँ और उनके विषयोंका सम्बन्ध होते ही असर पड़ता है। किसीके राग-द्वेष ज्यादा होते हैं, किसीके कम होते हैं। सबके अलग-अलग संस्कार हैं, अलग-अलग अभ्यास है। परन्तु असर पड़नेपर भी 'राग-द्वेष हमारेमें हैं'—यह आपने किस आधारपर माना? इनको आप अपनेमें मानोगे तो कहनेवाला कितना ही जोर लगा ले, आपमें रत्तीमात्र भी फर्क नहीं पड़ेगा। चोर-डाकू तो जबर्दस्ती करते हैं, उनको आप निमन्त्रण दे दो तो फिर वे सवार हो ही जायँगे! ऐसे ही आपने राग-द्वेषको अपनेमें मान लिया, उनको निमन्त्रण दे दिया तो अब वे जायँगे नहीं।

श्रोता—मृत्युके बाद राग-द्वेषके संस्कार तो रह ही जाते हैं!

स्वामीजी—मृत्यु ही क्या, चौरासी लाख योनियाँ और नरक भोग लो तो भी राग-द्वेष मिटेंगे नहीं; क्योंकि इनको आपने अपनेमें मान लिया, अब आप मिटो तो ये मिटें! आप नित्य परमात्माके अंश हो; अतः आप जिसको पकड़ोगे, वह भी नित्य दीखने लग जायगा! आगमें ठीकरी रख दो, कंकड़ रख दो, लकड़ी रख दो, कोयला रख दो, सब चमकने लगेंगे। ऐसे ही आप जिसको अपनेमें मान लोगे, वह चमकने लग जायगा। राग-द्वेष

नित्य नहीं हैं, पर आप नित्य हो; अतः आप राग-द्वेषको अपनेमें मान लोगे तो वे भी नित्य दीखने लग जायँगे।

श्रोता—महाराजजी, लोग कहते हैं कि सत्संगमें आते पचास-साठ वर्ष हो गये, पर राग-द्वेष मिटे नहीं!

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि सौ वर्ष हो गये, आपने राग-द्वेषको मिटाया ही नहीं! राग-द्वेषको पकड़कर सौ वर्ष सत्संग कर लो, फिर कहो कि राग-द्वेष तो रहते ही हैं! राग-द्वेषको मिटाओगे तो वे मिटेंगे। क्या बिना मिटाये ही मिट जायँगे? मेरी तो ऐसी धारणा है कि एक दिन भी ठीक तरहसे बात सुने तो उसमें फर्क पड़ जायगा!

श्रोता—फर्क पड़नेसे क्या होगा? सर्वथा मिटने चाहिये।

स्वामीजी—तो जबतक सर्वथा नहीं मिटें, तबतक पिण्ड मत छोड़ो, इनके पीछे पड़ जाओ। अनेक जन्मोंकी पड़ी हुई बातमें एक दिन सुननेसे भी फर्क पड़ता है तो अनेक जन्मोंकी बात सच्ची हुई या एक दिनकी बात सच्ची हुई?

श्रोता—जो मान रखा है, उसको न माननेमें किसीकी कोई जरूरत नहीं है क्या?

स्वामीजी—आपकी ही जरूरत है! आप पकड़े रहोगे तो मैं कह दूँ या ब्रह्माजी कह दें, कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। अपनी मानी हुई बातको दूसरा कैसे मिटा सकता है? आपने अपनेको गृहस्थी मान रखा है तो दूसरेके कहनेसे अपनेको गृहस्थी मानना कैसे छोड़ दोगे? मैं अपनेको साधु मानता हूँ, पर कोई उपदेश दे कि तुम साधु नहीं हो तो कैसे मान लूँगा मैं?

श्रोता—अभी जो आपने कहा, उसको माननेमात्रसे काम चल जायगा?

स्वामीजी—माननेके सिवाय और किससे काम चलेगा? यह मेरी स्त्री है—ऐसा माननेके सिवाय और कोई प्रमाण हो तो बताओ! सिर्फ माननेसे बेटा-पोता हो जायगा, सब कुछ हो जायगा।

एक सीखना होता है, एक अनुभव करना होता है। नया काम सीखनेमें देरी लगती है, पर जो पहलेसे ही है, उसका अनुभव करनेमें किस बातकी देरी? जैसा मैं कहता हूँ, उसको आप शंकारहित होकर मान लो तो पट दीखने लग जायगा, अनुभव हो जायगा; क्योंकि बात है ही ऐसी। सेठजीने कहा था कि ज्ञानकी, तत्त्वकी बात कठिन है—यह मेरी समझमें नहीं आया; इसमें कठिनता किस बातकी? कठिनताकी बात ही नहीं है। परन्तु जब लोगोंपर आजमाइश की और देखा कि उनको ज्ञान हुआ नहीं, तब जबर्दस्ती माना कि कठिन है! आपने कठिन मान लिया तो अब आपकी मान्यताको कौन छुड़ा सकता है? किसकी ताकत है कि छुड़ा दे?

पंढरपुरमें चातुर्मास हुआ था। उसमें मैंने एक दिन कह दिया कि तत्त्वकी प्राप्ति तो बड़ी सरल बात है। इसको सुनकर कुछ लोग कहने लगे कि तुकारामजी महाराजने ऐसा-ऐसा कहा है, तत्त्वप्राप्तिमें तो कठिनता है। तब मैंने एक बात कही कि मैं मराठी जानता नहीं, महाराष्ट्रके सन्तोंकी वाणी मैंने पढ़ी नहीं; परन्तु मेरी एक धारणा है कि ज्ञानेश्वरजी, तुकारामजी आदि सन्तोंको भगवत्प्राप्ति हुई थी, वे तत्त्वज्ञ पुरुष थे। तत्त्वज्ञ पुरुषके भीतर यह भाव रह सकता ही नहीं कि तत्त्वप्राप्ति कठिन है। अतः उनकी वाणीमें 'तत्त्वकी प्राप्ति सुगमतासे होती है'—यह बात नहीं आये, ऐसा हो ही नहीं सकता! उनकी

वाणीमें यह बात जरूर आयेगी कि तत्त्वप्राप्ति सुगम है। इतनेमें एक आदमी बोल गया वाणी कि ऐसे सुगम लिखा है उसमें! लिखे बिना रह सकते नहीं। जो वास्तविक बात है, उसको वे कैसे छोड़ देंगे? तत्त्वको बनाना थोड़े ही है, वह तो ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। फिर उसकी प्राप्तिमें कठिनता किस बातकी? राग-द्वेष हमारेमें हैं—यह मान्यता दृढ़ कर ली है, इसीलिये तत्त्वकी प्राप्ति कठिन दीखती है।

❑❑

१३. काम-क्रोधसे छूटनेका उपाय

जितनी भी असत् अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुएँ हैं, उनके दो विभाग हैं—(१) शरीर, रुपये, मकान आदि पदार्थ और (२) काम, क्रोध, लोभ आदि वृत्तियाँ। जैसे पदार्थ उत्पन्न होते हैं और मिट जाते हैं, ऐसे ही वृत्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं और मिट जाती हैं। पदार्थों और वृत्तियोंका तो अभाव हो जाता है, पर सत् वस्तुका कभी अभाव नहीं होता।

हमारा स्वरूप सत् है और उसका अभाव कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं तथा हो सकता ही नहीं। इसके विपरीत असत् वस्तुका अस्तित्व कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता ही नहीं। अतः हम जो यह लोभ करते हैं कि रुपये बने रहें, शरीर बना रहे, कुटुम्ब बना रहे, यह हम गलती करते हैं। ऐसे ही हम जो यह भय करते हैं कि कामना आ गयी, क्रोध आ गया, लोभ आ गया, विषमता आ गयी, ये वृत्तियाँ नहीं रहनी चाहिये, यह भी हम गलती करते हैं। कारण कि जिनका अस्तित्व ही नहीं है, उनके बने रहनेकी इच्छा करना भी गलती है और उनके न आनेकी इच्छा करना भी गलती है। पदार्थ बने रहें—इसका अर्थ यह हुआ कि पदार्थ हैं, इसलिये इनको बने रहना चाहिये। काम, क्रोध आदि नहीं रहें—इसका अर्थ यह हुआ कि काम, क्रोध आदि हैं, इसलिये इनको नहीं रहना चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि पदार्थोंको रखनेकी इच्छा करना और वृत्तियोंको मिटानेकी इच्छा करना—दोनों इच्छाएँ असत् वस्तु (पदार्थ और वृत्ति)-की सत्ता माननेसे ही पैदा होती हैं।

काम, क्रोध आदि वृत्तियोंके आनेसे साधकको घबराना नहीं चाहिये। स्थूलदृष्टिसे भी देखें तो काम, क्रोध आदि हरदम नहीं रहते। काम पैदा हुआ तो पैदा होते ही नष्ट होना शुरू हो गया। क्रोध पैदा हुआ तो पैदा होते ही नष्ट होना शुरू हो गया। लोभ पैदा हुआ तो पैदा होते ही नष्ट होना शुरू हो गया। मोह पैदा हुआ तो पैदा होते ही नष्ट होना शुरू हो गया। नष्ट होना क्या शुरू हो गया, उसकी तो सत्ता ही नहीं है!

असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। जो कभी है और कभी नहीं है, वह वास्तवमें कभी नहीं है। जिसका कभी भी अभाव है, उसका सदा ही अभाव है। जिसका किसी भी जगह अभाव है, उसका सब जगह ही अभाव है। जिसका किसी भी व्यक्तिमें अभाव है, उसका सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें अभाव है। जिसका किसी भी परिस्थितिमें अभाव है, उसका सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें अभाव है। अतः हम काम, क्रोध, लोभ आदिसे भयभीत होते हैं तो यह गलती है। तो फिर क्या करें? ये काम, क्रोध आदि हमारेमें हैं ही नहीं—ऐसा एक निश्चय कर लें। जो सच्ची बात है, उस बातको पकड़ लें। सच्ची बातको पकड़नेका नाम ही साधन है।

जो पहलेसे ही मिटा हुआ है, उसको क्या मिटायें? जिसका अभाव है, उसकी सत्ता मानकर आप उसको मिटानेका उद्योग करते हैं, पर वास्तवमें उद्योग उसको मिटानेका नहीं होता, प्रत्युत उसको दृढ़ करनेका हो जाता है; क्योंकि सत्ता मानकर ही मिटाना होता है। जिन पदार्थोंको आप रखना चाहते हैं, उनकी जैसे सत्ता नहीं है। ऐसे ही जिन वृत्तियोंको आप हटाना

चाहते हैं, उनकी भी सत्ता नहीं है। मेरेमें काम है, क्रोध है—इस तरह आप उनको जो सत्ता दे देते हैं, यही वास्तवमें भूल है। अब जितना ही उनको मिटानेका उद्योग करोगे, उतना ही वे दृढ़ होंगे। अतः मूलमें उनकी सत्ता ही नहीं है—इस बातपर दृढ़ रहें अर्थात् उनके अभावका अनुभव करें कि वास्तवमें वे न स्वरूपमें हैं, न स्वभावमें हैं।

श्रोता—काम, क्रोध आदि दोष बाहरसे तो उत्पन्न और नष्ट होते हैं, पर भीतरमें तो बीजरूपसे पड़े ही रहते हैं?

स्वामीजी—उनकी बीजरूपसे धारणा आपने ही कर रखी है। बीजरूपसे भी क्या वे सत् हैं? वे तो असत् ही हैं।

श्रोता—पदार्थोंका स्वाभाविक नाश हो रहा है, यह बात तो समझमें आती है, पर काम, क्रोध आदि विकार भी स्वाभाविक मिट रहे हैं—यह बात समझमें नहीं आती! विकारोंको मिटाये बिना वे कैसे मिटेंगे?

स्वामीजी—किसीके लड़केकी मृत्यु हो जाय तो उस दिन जो शोक होता है, वह बारह-पन्द्रह दिनके बाद वैसा रहता है क्या? बारह महीनोंके बाद वैसा रहता है क्या? दस-बारह वर्षोंके बाद वैसा रहता है क्या? नहीं रहता। इससे सिद्ध होता है कि शोकको मिटाये बिना वह मिटता है। घरमें कोई मर जाता है तो दीवालीके दिन मीठा नहीं बनता; परन्तु दस-बीस वर्षोंके बाद क्या उस घरमें मीठा नहीं बनता? क्या उस घरमें विवाह नहीं होता? शोक तो बिना मिटाये मिट जाता है; क्योंकि असत् वस्तुकी सत्ता है ही नहीं। उसको मिटानेका उद्योग करके आप ही उसको सत्ता देते हो।

जैसे पदार्थ स्थायी नहीं होता, ऐसे ही वृत्ति भी स्थायी नहीं

होती। शोकमें डूबा हुआ आदमी भी बातें करते-करते मौकेपर हँस देता है, प्रसन्न हो जाता है तो उस समय वह शोक कहाँ रहा? उत्पन्न होनेवाली वस्तु नष्ट होनेवाली होती ही है—यह नियम है। क्रोध आये तो उसको महत्त्व मत दो। ऐसा समझो कि यह तो मिट रहा है। अगर क्रोधको घण्टाभर रहना है और क्रोध आनेके बाद पाँच मिनट बीत गये तो क्या अब उसकी उम्र घण्टाभर रही? पाँच मिनट वह मर गया कि नहीं? बीजरूपसे भी वह रहता नहीं है; क्योंकि उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। मूलमें सत्ता तो परमात्माकी ही है। जब प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमात्रकी ही स्थायी सत्ता नहीं है तो फिर क्रोध आदि विकारोंकी स्थायी सत्ता कैसी? प्रकृतिके बाहर विकार हैं ही कहाँ? मुफ्तमें ही विकारोंको मिटानेके उद्योगमें समय बरबाद कर लिया, जबकि मूलमें विकार हैं ही नहीं। यही बात समझनेकी और धारण करनेकी है। सत्संगके द्वारा यही तो प्रकाश मिलता है।

श्रोता—बिना साधनाके क्रोध कैसे मिटेगा?

स्वामीजी—क्रोध तो बिना साधनाके ही मिटता है! आप ध्यान दें, क्रोध साधनासे जल्दी नहीं मिटेगा। आप क्रोधकी उपेक्षा कर दें तो वह अपने-आप मिट जायगा। वह तो मिट ही रहा है, आप ही उसको सत्ता दे रहे हैं। मैंने शोकका जो दृष्टान्त दिया है, उसपर आप विचार करें। घरमें कोई मर जाता है तो आप उसको याद कर-करके, रो-रोकर शोकको जीवित रखते हैं और दूसरे लोग भी आ-आकर उसको याद करते हैं, पर जीवित रखनेका उद्योग करनेपर भी वह शोक जीवित नहीं रहता, मिट ही जाता है। कारण कि उसमें ताकत नहीं है टिकनेकी।

श्रोता—कभी दूसरी कोई घटना होगी तो फिर शोक हो जायगा; अतः शोकका बीज तो रहेगा ही?

स्वामीजी— अगर आप ऐसा मानेंगे तो फिर अज्ञान कभी मिटेगा ही नहीं। अज्ञानको मिटानेकी सब चेष्टा निरर्थक होगी। कारण कि शोकका बीज अज्ञान है और अज्ञान भी असत् ही है। कारण कि ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान नहीं है, प्रत्युत अधूरे ज्ञानका नाम अज्ञान है। आप साधनकी दृष्टिसे देखें तो भी 'विकार है और उसको मिटाना है'—इसकी अपेक्षा 'विकार है ही नहीं'—यह मानना बढ़िया है। जिसकी सत्ता ही नहीं है, उसको मिटायें क्या? विकार पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और अभी भी मिट रहा है—ये तीन बातें बहुत ही मार्मिक हैं। यह सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें नहीं होता, उसकी सत्ता वर्तमानमें भी नहीं होती। साधन करनेवाले भाई-बहन इस बातको खूब सरलतासे समझ लेंगे कि साधन करते-करते काम, क्रोध आदिकी वृत्तियाँ बिना उद्योग किये स्वतः कम होती हैं। आप सत् वस्तुकी तरफ दृष्टि रखेंगे तो असत् वस्तु स्वतः ही निवृत्त होगी; क्योंकि वह स्वतः निवृत्त है—'**नासतो विद्यते भावः**'।

क्रियात्मक साधनकी अपेक्षा विवेकात्मक और भावात्मक साधन तेज हैं। कारण कि क्रियाका अन्त होता है, पर विवेक और भावका अन्त नहीं होता। क्रिया स्थूल होती है, पर विवेक और भाव सूक्ष्म होते हैं। अतः क्रियात्मक साधन करके विकारोंको मिटानेका उद्योग करनेसे इतना जल्दी काम नहीं बनता; किन्तु विवेक और भावसे विकारोंकी सत्ता ही नहीं माननेसे विकार स्वतः मिट जाते हैं। असत्‌की सत्ता विद्यमान है ही नहीं—यह विवेक और भाव जितना काम करेगा, उतना क्रिया काम नहीं करेगी।

एक करण-सापेक्ष साधन है और एक करण-निरपेक्ष साधन है। करण-सापेक्ष साधनमें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका आश्रय लेकर साधन किया जाता है, पर करण-निरपेक्ष साधनमें शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका आश्रय नहीं लिया जाता, प्रत्युत उनसे माने हुए सम्बन्धका विच्छेद किया जाता है। करण-सापेक्ष साधनमें बहुत देर लगती है, पर करण-निरपेक्ष साधनमें तत्काल सिद्धि होती है। अगर आप करण-सापेक्ष साधनके द्वारा अहंताको मिटाओगे तो वह जन्म-जन्मान्तरोंतक मिटेगी नहीं, पर 'वह है ही नहीं'—ऐसा स्वयंसे अनुभव कर लोगे तो वह टिकेगी नहीं। परन्तु साधकका ध्यान इधर जाता नहीं। वह सोचता है कि मैं इसको मिटा रहा हूँ, पर कर रहा है उसको दृढ़।

यह जो अवगुणोंकी सत्ताको मानना है, इसमें एक बड़े भारी अनर्थकी बात यह है कि जिस समय क्रोध आता है, उस समय आप 'क्रोध किसको नहीं आता? अन्न खाते हैं तो क्रोध आयेगा ही'—ऐसा मानकर अपनेमें क्रोधकी सत्ताको दृढ़ करते हैं और जिस समय क्रोध नहीं आता, उस समय आप 'मैं क्रोधी आदमी हूँ, मेरेमें क्रोध है, जो समयपर आ जायगा'—ऐसा मानकर अपनेमें क्रोधकी सत्ताको निरन्तर मानते हैं और दृढ़ करते हैं। इस प्रकार जिस समय क्रोध आया है, उस समय भी अपनेमें क्रोधको मानते हैं और जिस समय क्रोध नहीं आया है, उस समय भी अपनेमें क्रोधको मानते हैं, तो अब क्रोध मिटे कैसे? क्रोधको आपने अखण्डरूपसे पकड़ रखा है, इसीलिये वह आपमें बैठा है, नहीं तो क्या चोर-डाकूमें इतनी ताकत है कि वह आपके घरमें बैठा रहे? आपने खुद ही उसको अपनेमें बैठा रखा है। विचार करना चाहिये कि क्रोध तो आता-जाता है, पर मैं

हरदम रहता हूँ, फिर मैं क्रोधी कैसे? अगर मेरेमें क्रोध है, तो फिर उसको हरदम रहना चाहिये अर्थात् जबतक मैं रहूँ, तबतक क्रोधको भी रहना चाहिये और मेरा अभाव होनेपर ही क्रोधका अभाव होना चाहिये। मैं तो विद्यमान हूँ, पर क्रोध विद्यमान नहीं है, तो फिर मैं क्रोधी कैसे हुआ? हरदम रहनेवाला तो एक सत्-तत्त्व ही है। इसके सिवाय और कोई भी वस्तु हरदम रहनेवाली नहीं है।

सब दोष स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें ही रहते हैं। जब शरीर ही असत् है, तो फिर उसमें रहनेवाले दोष सत् कैसे? परन्तु आप उनको अपनेमें स्थायी मानकर उनको दूर करनेका उद्योग करते हैं और फिर कहते हैं कि ये दूर होते नहीं! यह दशा करण-सापेक्ष साधनमें होती है। करण-निरपेक्ष साधनमें यह दशा नहीं होती। करण-निरपेक्ष साधनमें न वृत्ति लगानेकी जरूरत है, न बुद्धि लगानेकी जरूरत है, न मन लगानेकी जरूरत है। दोष अपनेमें हैं ही नहीं—इसको स्वयंसे स्वीकार करना है, मन-बुद्धिसे नहीं। यह करण-निरपेक्ष साधन बहुत श्रेष्ठ है, पर इसके विषयमें बहुत कम पढ़ने-सुननेको मिलता है।

साधन करना खुद धनको कमाना है और सत्संग करना धनी व्यक्तिके गोद जाना है। गोद जानेवालेको क्या कमाना पड़ता है? उसको तो कमाया हुआ धन मिलता है। ऐसे ही सत्संगमें जानेसे बिना साधन किये साधन होता है। एक बार मैंने ऋषिकेशमें सत्संगी भाई-बहनोंसे कहा कि आप सब पत्थर हैं, पर हैं गंगाजीके! गंगाजीके पत्थर कैसे सुन्दर, गोल-गोल हो जाते हैं और अच्छे लगते हैं! उन पत्थरोंने न तो खुद कोई उद्योग किया है और न किसी दूसरे व्यक्तिने ही उद्योग किया है। वे

गंगाजीके प्रवाहमें पड़े रहे और लुढ़क-लुढ़ककर अपने-आप गोल हो गये। ऐसे ही सत्संगमें पड़े-पड़े आप गोल पत्थर हो गये! जो पढ़े-लिखे नहीं हैं, जिनको हस्ताक्षर करना भी नहीं आता, ऐसे साधारण पुरुषोंको भी सत्संगके प्रभावसे अच्छे-अच्छे पण्डितोंकी बातोंमें भी गलती दीख जाती है, कमी दीख जाती है। गंगाजीका पत्थर पवित्र होता है। सत्संगमें पड़े रहनेमात्रसे मनुष्य पवित्र हो जाता है। उसमें अपने-आप गुण आ जाते हैं और दोष स्वाभाविक ही मिट जाते हैं।

❑ ❑

१४. विकारोंसे छूटनेका उपाय

यह जीवात्मा परमात्माका साक्षात् अंश है। अतः जैसे परमात्मा सत्यसंकल्प हैं, ऐसे ही यह जीवात्मा भी एक अंशमें सत्यसंकल्प है। जब जीवात्मा अपनेमें राग-द्वेषादि दोषोंकी मान्यता कर लेता है, तब इसमें वे दोष दीखने लग जाते हैं, नहीं तो वे दोष इसमें हैं नहीं। राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि जितने भी दोष हैं, उनमेंसे कोई-सा भी दोष जीवात्मामें नहीं है। अगर इसमें दोष होते तो इसको ***'चेतन अमल सहज सुखरासी'*** नहीं कहते।

जितने भी विकार हैं, वे सब प्रकृतिके गुणोंमें ही रहते हैं; परन्तु जीवात्मा गुणोंसे रहित है—**'निर्गुणत्वात्'** (गीता १३।३१)। प्रकृतिके गुणोंमें ही सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ रहती हैं, जिनका वर्णन गीताके चौदहवें अध्यायमें आया है। स्वयंमें वृत्तियाँ नहीं रहतीं। अगर यह बात ठीक अनुभवमें आ जाय तो मनुष्य तत्काल जीवन्मुक्त हो जाय! तत्काल जीवन्मुक्त क्यों हो जाय? कि वास्तवमें यह जीवन्मुक्त ही है। मुक्ति स्वतःसिद्ध है और बन्धन पकड़ा हुआ है, कृत्रिम है। बन्धन न होते हुए भी जीवने बन्धनको स्वीकार कर लिया है। जीवने ही असत्‌को धारण कर रखा है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७।५)। अगर जीव असत्‌को धारण (स्वीकार) न करे तो असत्‌में रहनेकी ताकत ही नहीं है।

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत् वस्तुका अभाव नहीं है—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'**

(गीता २। १६)। जिसकी सत्ता है ही नहीं, उसकी प्राप्ति कैसे होगी? असत्‌की प्राप्ति और सत्‌की अप्राप्ति असम्भव है। परन्तु सत्-स्वरूप स्वयंने असत्‌को सत् मान लिया, जिससे असत्‌की सत्ता दीखने लग गयी। अतः केवल माननेसे ही असत्‌को सत्ता मिली है और न माननेसे वह मिट जायगी।

काम, क्रोध, लोध, मोह आदि विकार हमारेमें नहीं हैं। ये प्रकृतिमें हैं। अगर हम प्रकृतिको स्वीकार न करें तो ये प्रकृतिमें भी नहीं हैं। प्रकृतिको स्वीकार करते ही ये विकार प्रकृतिमें पैदा हो जाते हैं। जिस स्थानपर कोई मनुष्य नहीं जाता, वह स्थान (जंगल आदि) बड़ा शुद्ध होता है और जिस स्थानपर मनुष्य रहते हैं, वहाँ अशुद्धि फैल जाती है। कारण कि मनुष्य ही अपने सम्बन्धसे उसको अशुद्ध करता है। असत् वस्तुको अपनी मानते ही वह अशुद्ध हो जाती है और उसको अपना मानना छोड़ते ही सब अशुद्धि मिट जाती है—*'ममता मल जरि जाइ'* (मानस ७। ११७ क)।

जब मनुष्य जड़तामें अपनापन कर लेता है, तब वह जड़ता ही उसको दबा लेती है। जैसे बादल सूर्यसे पैदा होते हैं और सूर्यको ही ढक देते हैं, ऐसे ही दोष आपसे पैदा होते हैं और आपको ही ढक देते हैं। अगर आप इनको पैदा न करें तो आप स्वतः-स्वाभाविक मुक्त हैं। इसीलिये ज्ञान होनेपर फिर मोह नहीं होता— **'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव'** (गीता ४। ३५); क्योंकि वास्तवमें मोह है ही नहीं। अगर मोह होता तो वह पुनः हो जाता।

काम, क्रोध, लोभ आदिसे रहित होनेका उपाय है कि 'ये अपनेमें नहीं हैं'—ऐसा दृढ़तासे मान लें। ये अपनेमें दीखें,

तो भी इनको अपनेमें नहीं मानें; क्योंकि वास्तवमें ये अपनेमें हैं नहीं, केवल भूलसे माने हुए हैं। आप रहते हैं और ये नहीं रहते—यह आपका अनुभव है। अभी आप हैं, पर अभी काम है क्या? अभी क्रोध है क्या? अभी लोभ है क्या? अगर ये आपमें होते तो जैसे कपड़ेमें रंग रहता है, कपड़ा रहता है तो रंग भी रहता है, ऐसे ही ये भी आपमें सदा रहते। ये दोष सदा नहीं रहते—यह आपका अनुभव है। इससे सिद्ध हुआ कि ये दोष आगन्तुक हैं अर्थात् आने-जानेवाले और अनित्य हैं—'**आगमापायिनोऽनित्याः**' (गीता २।१४)।

आप सत्-स्वरूप हैं, इसलिये जब आप अपनेमें काम, क्रोध आदिकी सत्ता मान लेते हैं, तब वे असत् होते हुए भी सत् दीखने लग जाते हैं। जैसे आगमें कोई भी चीज रख दें तो वह चमक उठती है। चाहे ठीकरी हो, चाहे पत्थर हो, चाहे लकड़ी हो, चाहे कोयला हो, आगमें रखनेपर वह चमकने लग जाता है। ऐसे ही आप जिस चीजको अपनेमें स्वीकार करते हैं, वह आपमें (सत्-स्वरूपमें) दीखने लग जाती है।

शरीर असत् है। यह प्रतिक्षण बदलता रहता है। इतनी तेजीसे बदलता है कि इसको उसी रूपमें दो बार कोई देख ही नहीं सकता; क्योंकि एक क्षण पहले शरीर जैसा था, दूसरे क्षणमें वह वैसा नहीं रहता। केवल आपकी भावनासे ही यह सत् ('है')-रूपसे दीखता है। यदि यह है तो फिर यह बदलता कैसे है?

श्रोता—यदि यह नहीं है तो फिर यह दीखता कैसे है?

स्वामीजी—आपने भावना कर ली, इसीलिये दीखता है। एक मार्मिक बात है कि यह शरीर वास्तवमें शरीरको ही

दीखता है। स्वयंको शरीर दीखता ही नहीं। आप ही बतायें कि क्या सुषुप्तिमें शरीर दीखता है? आप इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे देखते हैं, तभी यह दीखता है, नहीं तो इसमें खुदमें दीखनेकी ताकत नहीं है। जिस धातुका शरीर है, उसी धातुके नेत्र हैं, उसी धातुका मन है, उसी धातुकी बुद्धि है, उसी धातुका अहम् है। अहम्से रहित होकर देखें तो क्या शरीर दीखेगा? सुषुप्तिमें अहम् लुप्त हो जाता है तो फिर शरीर नहीं दीखता।

श्रोता—सुषुप्तिमें तो अज्ञान छाया रहता है!

स्वामीजी—जब अज्ञानमें भी इतनी सामर्थ्य है कि शरीर दीखना बन्द हो जाता है, तो क्या ज्ञानमें अज्ञान जितनी भी सामर्थ्य नहीं है? जब साधक निर्मम-निरहंकार हो जाता है, उसके अज्ञानका नाश हो जाता है, तब शरीरकी सत्ता नहीं दीखती; क्योंकि शरीरमें सामर्थ्य नहीं है दीखनेकी।

श्रोता—ज्ञान होनेपर शरीर-संसार कैसे दीखते हैं?

स्वामीजी—शरीर-संसार ऊपरसे तो वैसे ही दीखते हैं, पर उनमें अस्तित्व-बुद्धि मिट जाती है; जैसे—दर्पणमें मुख दीखनेपर भी उसमें अस्तित्व-बुद्धि नहीं होती। ज्ञानी महापुरुषको शरीर-संसार जली हुई मूँजकी रस्सीकी तरह अथवा तपे हुए लोहेपर चिपके कागजकी तरह दीखते हैं। जली हुई रस्सी दीखती तो है, पर वह बाँध नहीं सकती। हाथ लगाते ही वह बिखर जाती है। ऐसे ही तपे हुए लोहेपर चिपके कागजके अक्षर पढ़े तो जा सकते हैं, पर उसको उठाया नहीं जा सकता। ज्ञानीकी दृष्टिमें अन्तःकरण-सहित संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अत्यन्त अभाव हो जाता है और परमात्मतत्त्वकी सत्ताका भाव नित्य-निरन्तर जाग्रत् रहता है। जैसे

गैसबत्तीके मेंटलमें आग लगाते ही वह जल जाता है, पर उस जले हुए मेंटलसे विशेष प्रकाश होता है, ऐसे ही ज्ञानीके जले हुए (सत्तारहित) अन्तःकरणमें ज्ञानका विशेष प्रकाश होता है। उसके आचरणोंमें, वचनोंमें विलक्षणता आ जाती है। उसके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक मर्यादित व्यवहार होता है, जो सबके लिये आदर्श होता है और सबका हित करनेवाला होता है।

आप विचार करें। अगर ज्ञान होनेसे मुक्ति हो जाती है, तो इससे सिद्ध होता है कि मुक्ति स्वतःसिद्ध है, केवल उसका अनुभव हुआ है। ज्ञान होनेसे मुक्ति पैदा नहीं होती। मुक्ति तो सदा ज्यों-की-त्यों है, पर उसकी तरफ दृष्टि न रहनेसे उसका अनुभव नहीं होता था। उसकी तरफ दृष्टि होनेसे अर्थात् ज्ञान होनेसे उसका अनुभव हो जाता है। अतः जिस तत्त्वकी प्राप्ति ज्ञानसे होती है, वह तत्त्व पहलेसे ही विद्यमान होता है। अज्ञानावस्थामें भी स्वरूप ज्यों-का-त्यों ही रहता है, उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। आप जानें या न जानें, मानें या न मानें, स्वीकार करें या न करें, वह तो रहता ही है। उसकी तरफ दृष्टि डालते ही उसका अनुभव हो जाता है—

संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥

(मानस १।५८।४)

ज्ञान होनेपर तत्त्वमें कुछ भी फर्क नहीं पड़ता। फर्क उस बुद्धिमें पड़ता है, जिसमें अज्ञान है। अगर बुद्धिसे आपका सम्बन्ध ही न रहे तो फिर बुद्धिमें अज्ञान रहे चाहे न रहे, उससे आपको क्या मतलब? बुद्धिसे आपका सम्बन्ध वास्तवमें है नहीं। आपने ही उसके साथ सम्बन्ध मान रखा है।

श्रोता—क्या मुक्ति स्वाभाविक है?

स्वामीजी—हाँ, मुक्ति स्वाभाविक है। परन्तु यदि आप

बन्धनको दृढ़ करेंगे तो फिर मुक्ति स्वाभाविक कैसे होगी? बन्धन स्वाभाविक नष्ट नहीं होता; क्योंकि आप स्वयं सत्यसंकल्प हैं। अतः जब आप बन्धनको पकड़ते हैं, तब वह बन्धन भी सत्यकी तरह दृढ़ हो जाता है।

श्रोता—साधन करनेसे क्या यह बन्धन नष्ट हो जायगा?

स्वामीजी—साधन करण-सापेक्ष भी होता है और करण-निरपेक्ष भी। मैंने अभी जो करण-निरपेक्ष साधन बताया है, उसके समान श्रेष्ठ कोई साधन है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं। दूसरे जितने भी करण-सापेक्ष साधन करोगे, वे सब प्रकृतिकी सहायतासे ही करोगे। उनमें असत्‌का अर्थात् मन, बुद्धि आदिका आश्रय लेना ही पड़ेगा। जिनके द्वारा साधन करोगे, उन मन, बुद्धि आदिका त्याग कैसे कर सकोगे? उनके साथ अपना सम्बन्ध न मानना करण-निरपेक्ष साधन है, जिससे बन्धन तत्काल नष्ट हो जाता है।

निर्विकार स्वरूप ज्यों-का-त्यों विद्यमान था और विद्यमान रहेगा। केवल उसकी तरफ दृष्टि न रहनेसे वह विद्यमान (प्राप्त) होता हुआ भी अप्राप्तकी तरह दीख रहा है। उसकी तरफ दृष्टि न जानेका कारण है—असत् (उत्पत्ति-विनाशशील) वस्तुको महत्त्व देना। जितने भी विकार हैं, वे सब असत् वस्तुको महत्त्व देनेसे ही पैदा होते हैं। वास्तवमें असत् वस्तुका कोई महत्त्व है ही नहीं। जो क्षणभरके लिये भी टिके नहीं, उसका महत्त्व कैसा? केवल अविचारसे ही उसका महत्त्व प्रतीत होता है। अगर साधक विचारके द्वारा असत्‌में महत्त्व-बुद्धि मिटा दे तो निर्विकार स्वरूपमें स्वतः स्थितिका अनुभव हो जायगा।

❑ ❑

१५. सत्-असत्‌का विवेक

श्रोता—संसारका सम्बन्ध नहीं है—यह बात बुद्धितक तो समझमें आ गयी, पर आगे साफ नहीं है!

स्वामीजी—कोई बात नहीं! बुद्धितक समझमें आ गयी तो भी अच्छा है। आप यह मान लो कि वास्तवमें बात ऐसी ही है। आपका बालकपन अभी है क्या? नहीं है तो बालकपनका वियोग हो गया न? बालकपनका वियोग हो गया तो अभी जो अवस्था है, उसका वियोग नहीं होगा क्या? आगे जो अवस्था आयेगी, उसका वियोग नहीं होगा क्या? कोई भी अवस्था आये, कैसी ही परिस्थिति आये, उसका वियोग होगा ही—इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु सबका वियोग होनेपर भी परमात्माका वियोग नहीं होगा; क्योंकि परमात्मा सबमें परिपूर्ण है और सबसे अतीत है। जैसे, यह आकाश कहाँ नहीं है? जहाँ हम सब बैठे हैं, वहाँ भी आकाश है और जहाँ हम सब नहीं हैं, वहाँ भी आकाश है। ऐसे ही जहाँ हमलोग हैं, वहाँ भी परमात्मा हैं और जहाँ हमलोग नहीं हैं, वहाँ भी परमात्मा हैं। परमात्मा सबके भीतर बाहर, ऊपर, नीचे सर्वत्र परिपूर्ण हैं और सबसे अतीत भी हैं।

ये सब शरीर पहले नहीं थे, आगे नहीं रहेंगे और अब भी निरन्तर नहींमें ही जा रहे हैं। जैसे बालकपन नहीं रहा, ऐसे यह भी नहीं रहेगा, पर परमात्मा रहेंगे। बालकपन नहीं रहा तो क्या आप भी नहीं रहे? अतः परमात्मा है और संसार

नहीं है। परमात्मा है—इसको मानो तो योग हो गया और संसार नहीं है—इसको मानो तो योग हो गया। समताका नाम योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २। ४८) और दुःखरूप संसारके वियोगका नाम भी योग है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्**' (गीता ६। २३)। संसारका वियोग होनेपर समता ही रहेगी; क्योंकि संसार विषम है और परमात्मा सम है—'**समं सर्वेषु भूतेषु**' (गीता १३। २७)। व्यक्ति अलग-अलग हैं, पर आकाश अलग-अलग नहीं है, प्रत्युत एक है। ऐसे ही वह परमात्मा एक है। वह सबमें है और सबसे अतीत भी है। संयोगमें भी वही है और वियोगमें भी वही है। पहले भी वही था, पीछे भी वही रहेगा और अब भी वही है।

संसार नहीं है और परमात्मा है—ये दो बातें आप मान लें। यह जो संसार दीखता है, यह पहले नहीं था, आगे नहीं रहेगा और अब भी नहींमें जा रहा है। वह परमात्मा पहले भी था, आगे भी रहेगा और अब भी है। संसार नहीं है—ऐसा कहो अथवा परमात्मा है—ऐसा कहो, एक ही बात है। इसमें क्या बाधा लगती है?

श्रोता—जो नहीं है, उसके लिये पाप कर देते हैं तो खाली कहना-सुनना हुआ!

स्वामीजी—जो है, उसको मुख्य मानो। कसौटी लगाकर उसको शिथिल मत करो, प्रत्युत कसौटीको शिथिल करो। भूलको महत्त्व न देकर सही बातको महत्त्व दो। पाप निरन्तर नहीं रहता। जो निरन्तर नहीं रहता, उसपर जोर मत दो, प्रत्युत जो निरन्तर रहता है, उसीपर जोर दो। आप स्वयं अनुभव करो कि निरन्तर कौन रहता है? पाप निरन्तर रहता है या

अपना होनापन (स्वरूप) निरन्तर रहता है? जो निरन्तर रहता है, उसीपर दृढ़ रहो तो सब ठीक हो जायगा।

पाप हो जाता है, अन्याय हो जाता है, झूठ-कपट हो जाता है तो क्या 'है' का अभाव हो जाता है? आप 'है' की तरफ देखो। 'है' में कोई फर्क पड़ता है क्या? जब आप 'नहीं' को 'है' मान लेते हो, तब बाधा लगती है। 'नहीं' को 'नहीं' मानो और 'है' को 'है' मानो। कोई पाप हो गया तो भूल हो गयी बीचमें! भूलके आधारपर 'है' का निषेध क्यों करते हो?

श्रोता—'है' को मान लिया, पर प्रत्यक्ष अनुभव हुए बिना यह मान्यता टिकती नहीं है!

स्वामीजी—देखो भाई! यह आँखसे नहीं दीखेगा। देखना दो तरहका होता है—एक आँखसे होता है और एक भीतरमें माननेसे होता है। भीतरसे अनुभव हो जाय, बुद्धिसे बात जँच जाय—इसको देखना कहते हैं। यह 'है' आँखसे कभी दीखेगा ही नहीं। यह तो माननेमें ही आता है। आपका नाम, जाति, गाँव, मोहल्ला, घर क्या अभी देखनेमें आ रहे हैं? देखनेमें नहीं आ रहे हैं तो क्या ये नहीं हैं? जो देखनेमें नहीं आता, वह होता ही नहीं—ऐसी बात नहीं है। जो देखनेमें नहीं आता, वही होता है। परमात्मा देखनेमें न आनेपर भी हैं। नाम, जाति आदिके होनेमें कोई शास्त्र आदिका प्रमाण नहीं है, प्रत्युत यह केवल आपकी कल्पना है। परन्तु परमात्माके होनेमें शास्त्र, वेद, सन्त-महात्मा प्रमाण हैं और उसको माननेका फल भी विलक्षण (कल्याण) है। इसलिये परमात्माको दृढ़तासे मानो।

गलती तो पैदा होनेवाली और मिटनेवाली है, पर परमात्मा

पैदा होनेवाला और मिटनेवाला नहीं है। पैदा होनेवाली वस्तुसे पैदा न होनेवाली वस्तुका निषेध क्यों करते हो? हमारेसे झूठ-कपट हो गया तो यह परमात्माका होनापन थोड़े ही मिट गया! परमात्माके होनेमें क्या बाधा लगी? यह मानो कि पाप हो गया तो वह भूल हुई, पर परमात्मा है—यह भूल नहीं है। परमात्माको जितनी दृढ़तासे मानोगे, उतनी भूलें होनी मिट जायँगी। जिस समय भूल होती है, उस समय आप 'परमात्मा है'—इसको याद नहीं रखते। इसकी याद न रहनेसे ही भूल होती है। जो 'है' उससे विमुख हो जाते हैं, उसको भूल जाते हैं, तब यह भूल होती है। इसलिये अपनेको उससे विमुख होना ही नहीं है। कभी अचानक कोई भूल हो भी जाय तो उस भूलको महत्त्व मत दो। जो सच्ची चीज है, उसको महत्त्व दो। भूल तो मिट जाती है, पर परमात्मा रहता है, मिटता है ही नहीं। जो हरदम रहता है, उसको मानो। अब बोलो, क्या बाधा लगी?

श्रोता—वर्षोंसे यह बात सुनते हैं, पर फिर भी खालीपन मालूम देता है!

स्वामीजी—पर खालीपनका ज्ञान आपको है कि नहीं? खालीपनका ज्ञान भी खाली है क्या? आप ज्ञानका तो निरादर करते हैं और खालीपनका आदर करते हैं। ज्ञान तो ठोस है, उसमें खालीपन है ही नहीं। खालीपन (नहीं)-को जाननेवाला ठोस (है) ही हुआ, खाली कैसे हुआ? वास्तवमें खालीपन है नहीं। असत्की सत्ता माननेसे ही खालीपन दीखता है; क्योंकि असत्की सत्ता नहीं है। तात्पर्य है कि आपने असत्की सत्ता मान रखी है और असत्की प्राप्ति होती नहीं, तब खालीपन दीखता है। दूसरी बात, आपने खालीपनकी सत्ता मानी है तो क्या सत्ता

खाली होती है? सत्ता भी खाली नहीं होती और ज्ञान भी खाली नहीं होता। सत्ता (सत्) और ज्ञान (चित्)—दोनों परमात्माके स्वरूप हैं। अब परमात्मा है—इसको माननेमें क्या बाधा लगी? इसको आप रद्दी मत करो। इस तरफ आप खयाल नहीं करते, इतनी ही बाधा है। इसका अभाव थोड़े ही हुआ है? इधर खयाल करना है—इतना ही काम है आपका।

परमात्मा ज्यों-का-त्यों है। उसको कोई बनाना नहीं है, पैदा करना नहीं है, केवल उधर खयाल करना है कि वह है। उसका हमारे साथ नित्य-सम्बन्ध है, नित्ययोग है। संसारके वियोगका अनुभव होनेपर परमात्माके नित्ययोगका अनुभव हो जायगा। परमात्माका नित्ययोग मानो तो 'योग' हो जायगा और संसारका नित्यवियोग मानो तो 'योग' हो जायगा। बात एक ही ठहरेगी! आप इसको महत्त्व नहीं दे रहे हैं। जो आने-जानेवाले हैं, उन रुपयों आदिको तो महत्त्व देते हो, पर रहनेवालेको महत्त्व नहीं देते। आने-जानेवालेको अस्वीकार करो और रहनेवालेको स्वीकार करो। अस्वीकार करनेका नाम भी 'योग' है और स्वीकार करनेका नाम भी 'योग' है।

जो चीज आदि और अन्तमें नहीं होती, वह बीचमें भी नहीं होती—यह सिद्धान्त है। जैसे, स्वप्न आया तो उससे पहले स्वप्न नहीं था, बादमें भी स्वप्न नहीं रहा; अतः स्वप्नके समय भी 'नहीं' ही मुख्य था, स्वप्न मुख्य नहीं था। इसलिये 'नहीं' निरन्तर रहा। इसी तरह संसार पहले नहीं था, पीछे नहीं रहेगा और वर्तमानमें भी निरन्तर 'नहीं' में ही जा रहा है; अतः इसमें 'नहीं' ही मुख्य है। इसमें बाधा क्या लगी?

श्रोता—'नहीं' की ममता-आसक्ति नहीं मिटती!

स्वामीजी—ममता-आसक्ति रहें चाहे न रहें, परमात्मा तो रहेगा ही। ममता, आसक्ति, कामना आदि तो आने-जानेवाले हैं और वह रहनेवाला है। रहनेवालेकी तरफ दृष्टि रखो। जो आता है और मिटता है, उसकी तरफ दृष्टि मत रखो, उसको महत्त्व मत दो। जो आता है, जाता है; बनता है, बिगड़ता है; पैदा होता है, मिटता है, उसका क्या महत्त्व है? परमात्मा न आता है, न जाता है, न बनता है, न बिगड़ता है, न पैदा होता है, न मिटता है, इसलिये वह 'है'। आसक्ति हो जाय तो होने दो, कामना हो जाय तो होने दो, उसकी परवाह मत करो। 'है' को दृढ़ रखो। आसक्ति हो जाय तो उसमें भी वह है। कामना हो जाय तो उसमें भी वह है। कुछ भी हो जाय वह तो ज्यों-का-त्यों ही है। उस 'है' की तरफ विशेष ध्यान होगा तो ये ममता, आसक्ति, काम, क्रोध आदि सब मिट जायँगे, रहेंगे नहीं। 'है' को मान लो तो 'नहीं' कैसे रहेगा? जिसका नाम ही 'नहीं' है, वह कैसे टिकेगा? इसमें बाधा यही है कि आप इसका आदर नहीं करते, इसको महत्त्व नहीं देते। अभी आपको दस रुपये मिल जायँ तो उसका एक महत्त्व है, पर जो नित्य-निरन्तर रहता है, उसका महत्त्व नहीं है—यह बड़े आश्चर्यकी बात है! शास्त्रोंने, वेदोंने, पुराणोंने 'है' को ही महत्त्व दिया है। सन्त-महात्माओंने भी इसीको महत्त्व दिया है, तभी तो संसारके बनने-बिगड़नेका उनपर असर नहीं पड़ता। जो निरन्तर रहता है, उस 'है' में क्या फर्क पड़े? क्या दुःख हो? क्या सन्ताप हो?

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

जो है, वह आँखोंसे नहीं दीखता। जो आँखोंसे दीखता है, वह रहता नहीं। कहते हैं कि जो आँखोंसे नहीं दीखता,

उसको कैसे मानें? यह समझदारका प्रश्न नहीं है। समझदारका प्रश्न तो यह होना चाहिये कि जो आँखोंसे दीखता है, उसको कैसे मानें? क्योंकि आँखोंसे जो दीखता है, वह तो मिटता है, बिगड़ता है, बदलता है। यह बिलकुल प्रत्यक्ष बात है। जो स्थिर नहीं रहता, बदलता है, उसको हम कैसे मान सकते हैं? नदीमें जैसे जल बहता है, ऐसे सब संसार बह रहा है, मौतकी तरफ जा रहा है, अभावकी तरफ जा रहा है। इसको हम 'है' कैसे मानें? बड़ी सीधी और सरल बात है। इसमें कठिनता है ही नहीं। कठिनता यही है कि आप इसको महत्त्व नहीं दे रहे हैं, इसको कीमती नहीं समझ रहे हैं।

जो पुरुष संसारको महत्त्व नहीं देते, धन-सम्पत्तिको महत्त्व नहीं देते, वे भी जीते हैं कि नहीं? आप महत्त्व नहीं दोगे तो क्या मर जाओगे? जो महत्त्व नहीं देते, उनके पास कोई अधिक महत्त्ववाली वस्तु है, तभी तो महत्त्व नहीं देते! उनमें यह सन्देह ही नहीं होता, शंका ही नहीं होती कि इसके बिना काम कैसे चलेगा! जैसे, बचपनमें आप खिलौनोंको महत्त्व देते थे, पर अब उनको महत्त्व नहीं देते। कारण कि अब आपने रुपये आदि चीजोंको महत्त्व दे दिया। रुपये आदिको महत्त्व न देकर सत्-तत्त्व ('है')-को महत्त्व दो तो असत्की सत्ताका स्वतः ही निरादर हो जायगा।

❑❑

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
465	साधन-सुधा-सिन्धु (४३ पुस्तकें एक ही जिल्दमें)	1308	प्रेरक कहानियाँ
1675	सागरके मोती	1408	सब साधनोंका सार
1598	सत्संगके फूल	411	साधन और साध्य
1633	एक संतकी वसीयत	412	तात्त्विक प्रवचन
400	कल्याण-पथ	414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार
401	मानसमें नाम-वन्दना	410	जीवनोपयोगी प्रवचन
605	जित देखूँ तित तू	822	अमृत-बिन्दु
406	भगवत्प्राप्ति सहज है	821	किसान और गाय
535	सुन्दर समाजका निर्माण	417	भगवन्नाम
1485	ज्ञानके दीप जले	416	जीवनका सत्य
1447	मानवमात्रके कल्याणके लिये	418	साधकोंके प्रति
1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला	419	सत्संगकी विलक्षणता
1247	मेरे तो गिरधर गोपाल	545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग
403	जीवनका कर्तव्य	420	मातृशक्तिका घोर अपमान
436	कल्याणकारी प्रवचन	421	जिन खोजा तिन पाइयाँ
405	नित्ययोगकी प्राप्ति	422	कर्मरहस्य
1093	आदर्श कहानियाँ	424	वासुदेवः सर्वम्
407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	425	अच्छे बनो
408	भगवान्‌से अपनापन	426	सत्संगका प्रसाद
861	सत्संग-मुक्ताहार	1733	संत-समागम
860	मुक्तिमें सबका अधिकार	1019	सत्यकी खोज
409	वास्तविक सुख	1479	साधनके दो प्रधान सूत्र

कोड	पुस्तक
1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण
1360	तू-ही-तू
1434	एक नयी बात
1440	परम पितासे प्रार्थना
1441	संसारका असर कैसे छूटे?
1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और......
431	स्वाधीन कैसे बनें?
702	यह विकास है या....
589	भगवान् और उनकी भक्ति
617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम
434	शरणागति
770	अमरताकी ओर
432	एकै साधे सब सधै
427	गृहस्थमें कैसे रहें?
433	सहज साधना
444	नित्य-स्तुति और प्रार्थना
435	आवश्यक शिक्षा
1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?
515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन
438	दुर्गतिसे बचो
439	महापापसे बचो
440	सच्चा गुरु कौन?
729	सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण
445	हम ईश्वरको क्यों मानें?
745	भगवत्तत्त्व
632	सब जग ईश्वररूप है
447	मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक
052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद
819	श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य
207	रामस्तवराज—(सटीक)
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र
231	रामरक्षास्तोत्रम्
1594	सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्
054	भजन-संग्रह
140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली
142	चेतावनी-पद-संग्रह
144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह
1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह
1214	मानस-स्तुति-संग्रह
1344	सचित्र-आरती-संग्रह
1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
208	सीतारामभजन